हंसराज रहबर

नेहरू बेनकाब

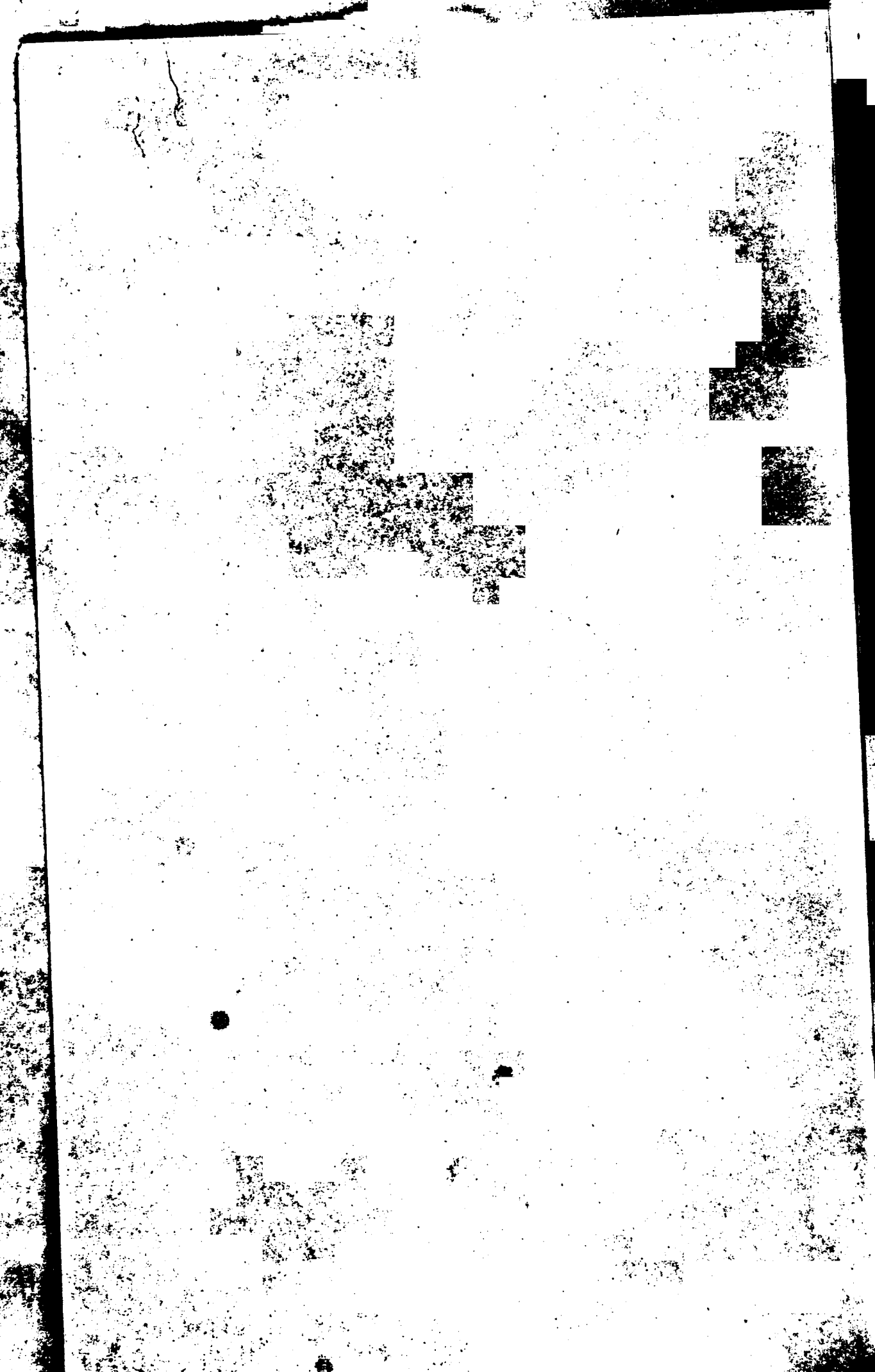

नेहरू बेनकाब

क्रांतिकारी लेखक **श्री हंसराज रहबर**
की अन्य ऐतिहासिक एवं विचारोत्तेजक पुस्तकें :

- **गांधी बेनकाब**
- **तिलक से आज तक**
- **योद्धा संन्यासी विवेकानन्द**
- **भगतसिंह : एक ज्वलन्त इतिहास**
- **गालिब : हकीकत के आईने में**

नेहरू बेनकाब

हंसराज रहबर

प्रस्तुतकर्ता
भगतसिंह विचार मंच

वितरक :
साक्षी प्रकाशन
दिल्ली-110032

© श्रीमती कौशल्या रहबर

प्रथम संस्करण : 1969
सातवीं आवृत्ति : 2005

प्रस्तुतकर्ता : भगतसिंह विचार मंच
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

वितरक : **साक्षी प्रकाशन**
एस-16, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110032
फोन : 22324833

मूल्य : **60.00**

अक्षर संयोजक : शब्दांकन लेजर प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

मुद्रक : आर. के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

NEHRU : BENAKAB *by* Hans Raj Rahabar Rs. 60 .00

अपनी बात

इतिहास विज्ञान है। विज्ञान सत्य है। सत्य पर तथ्यों के सहारे पहुंचा जा सकता है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए कड़वी दवा का सेवन और मानसिक स्वास्थ्य के लिए कड़वे सत्य का सेवन आवश्यक है।

जवाहरलाल नेहरू और गांधी हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के प्रमुख नेता थे। उनके जीवन के अध्ययन का मतलब है, राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास का अध्ययन। व्यक्ति आते हैं, जाते हैं, पर राष्ट्र अपनी जगह बना रहता है। उसका जीवन एक सतत बहती नदी के समान है, समय का एक अटूट क्रम है। इसलिए इतिहास की कोई प्रक्रिया अपने ही युग में समाप्त नहीं हो जाती, वह अपने बाद के इतिहास की घटनाओं और प्रक्रियाओं को प्रभावित करती रहती है। यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। दरअसल अच्छे-बुरे का निर्णय वर्ग-दृष्टिकोण से होता है। जिस या जिन वर्गों के हाथ में सत्ता होती है, वे अपने प्रचार के विशाल साधनों से बुरे प्रभाव को भी अच्छा कर दिखाते हैं और उसे अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए इस्तेमाल करते हैं।

हमारे राष्ट्रीय संघर्ष की प्रक्रिया भी 1947 में या गांधी और जवाहर की मौत के बाद समाप्त नहीं हो गई, वह आज भी हमारे चिंतन और कर्म को न सिर्फ राजनीति के क्षेत्र में बल्कि साहित्य, संस्कृति और समाज के हर क्षेत्र में प्रभावित कर रही है। गांधी और जवाहरलाल हमारे इस राष्ट्रीय संघर्ष के नायक और उपनायक थे, इसलिए उनका व्यक्तित्व इस प्रभाव को मूर्तरूप प्रदान करता है। इसीलिए उन पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है और लिखा जाएगा।

और मैंने भी इसीलिए जवाहरलाल नेहरू के जीवन का यह अध्ययन प्रस्तुत करने की ज़रूरत महसूस की।

यह गांधी शताब्दी का वर्ष है और शताब्दी का उद्देश्य भी यही है कि गांधी ने राष्ट्रीय संघर्ष में जो भूमिका अदा की, उसे उजागर किया जाए। मेरा

यह अध्ययन भी इसी सिलसिले की एक कड़ी है। कड़ी इसलिए है कि जवाहरलाल और गांधी एक ही रूप में हैं और जवाहरलाल के चरित्र-विश्लेषण से भी गांधी को समझने में मदद मिलती है। जवाहरलाल हमारे राष्ट्रीय संघर्ष में वामपक्ष के नेता मशहूर रहे और उनका संबंध समाजवादी विचारधारा से जोड़ा जाता है, पर हकीकत यह है कि उन्होंने बातें चाहे कुछ भी कीं, उनका व्यवहार हमेशा गांधीवाद रहा।

15-08-1969
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

हंसराज रहबर

अनुक्रम

पुरखे	9
बचपन और शिक्षा	12
स्वदेश वापसी	17
नेता और जनता	25
असहयोग	36
गांधी और जवाहरलाल	38
कुछ-न-कुछ	46
राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता	53
दो घोड़ों का सवार	62
नमक सत्याग्रह	69
बाप-बेटा	75
नये जाल	85
त्रिपुरी	93
15 अगस्त	102
मौत के बाद	112
परिशिष्ट-1	
दार्शनिक विचार	119
इतिहास लेखक	131
परिशिष्ट-2	
नेहरू ने लिखा था : जय जवाहरलाल की!	147
वसीयतनामा	151
महात्मा गांधी का पत्र	153
सुभाषचन्द्र बोस का पत्र	155

यह अध्ययन [illegible] की एक [illegible] के
अलावा [illegible]
से भी [illegible]
में [illegible]
[illegible]

अनुक्रम

[illegible]	९
[illegible]	11
[illegible]	१२
[illegible]	२९
[illegible]	३९
[illegible]	४४
[illegible]	
[illegible]	८८
[illegible]	९२
[illegible]	९७
[illegible]	१२
[illegible]	११४
[illegible]	
[illegible]	१४
[illegible]	१४१
[illegible]	
[illegible]	१४२
[illegible]	१४१
[illegible]	१४३
[illegible]	१४९

पुरखे

जवाहरलाल नेहरू के बारे में यह बात अक्सर कही जाती है कि वह एक बड़े बाप के बेटे थे, इसलिए देश की राजनीति में बहुत जल्दी बहुत बड़े आदमी बन गये। इसमें शक नहीं कि मोतीलाल नेहरू के बड़ा आदमी होने से जवाहरलाल को भी बड़ा आदमी बनने में मदद मिली, लेकिन दूसरी बात जिसने उन्हें बड़ा आदमी बनाया इतिहास का रहस्य है, जिसे हम 'बाप-बेटा' परिच्छेद में उद्‌घाटित करेंगे।

उनके गुण और स्वभाव को समझने के लिए उनके कुल और कुटुम्ब को समझना भी जरूरी है क्योंकि कुल और कुटुम्ब से जो संस्कार विरासत में मिलते हैं, मनुष्य अगर विशेष परिस्थितियों और संघर्षों में पड़कर उन्हें झटक न दे तो इन्हीं संस्कारों के आधार पर उसका चरित्र-निर्माण होता है।

जवाहरलाल नेहरू वंश के नाते कश्मीरी पंडित थे। यह अपनी संस्कृत की विद्वता के कारण राज-दरबारों में आदर-सम्मान पाने वाला पुरोहित-वर्ग था, जिसे हम आजकल की परिभाषा में राजभक्त बुद्धिजीवी वर्ग भी कह सकते हैं। जब मुसलमानों का राज आया और फारसी दरबारी भाषा बनी तो इस वंश के लोगों ने चट फारसी पढ़ना शुरू कर दी। इसी कारण जवाहरलाल नेहरू के राजकौल नाम के एक पुरखे कोई ढाई सौ बरस पहले अठारहवीं सदी के शुरू में कश्मीर छोड़कर दिल्ली आ बसे। वह संस्कृत और फारसी के माने हुए विद्वान थे। ये मुगल साम्राज्य के पतन के दिन थे। औरंगजेब मर चुका था और फर्रुखसियर बादशाह था। एक बार जब वह कश्मीर गया तो उसकी नजर राजकौल पर पड़ी। उसी के कहने से 1716 के आस-पास कौल परिवार दिल्ली आया। बादशाह ने उन्हें एक बहुत बड़ी जागीर के अलावा, एक मकान भी दिया, जो ठीक नहर के किनारे स्थित था और इसी कारण उनका नाम 'नेहरू' पड़ा। धीरे-धीरे कौल झड़ गया और नेहरू शेष रह गया।

जैसे-जैसे मुगलों का वैभव घटा नेहरू परिवार की जागीर भी घटते-घटते खत्म-सी हो गई। जवाहरलाल के परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू ने हवा का रुख पहचाना और उन्होंने मुगलों के बजाय अंग्रेज की नौकरी कर ली। वह दिल्ली दरबार में कम्पनी

सरकार के पहले वकील नियुक्त हुए।

जवाहरलाल के दादा गंगाधर नेहरू 1857 के स्वाधीनता संग्राम के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। 1861 में जब वह 34 साल के जवान आदमी थे, उनकी अकाल मृत्यु हो गई। 'मेरी कहानी' में जवाहरलाल ने लिखा है, "मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहां है, जिसमें वह मुगलों का दरबारी लिबास पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिए हुए हैं। उसमें वह एक मुगल सरदार जैसे लगते हैं। हालांकि शक्ल-सूरत उनकी कश्मीरियों की-सी ही थी।"

मोतीलाल का जन्म पिता की मृत्यु के तीन महीने बाद 6 मई, 1861 को आगरा में हुआ। 1857 के बाद बहुत-से परिवार दिल्ली छोड़कर इधर-उधर चले गए थे। इसी हलचल में नेहरू परिवार भी दिल्ली से आगरा चला आया था। मोतीलाल के दो भाई और थे, जो उम्र में इतने बड़े थे कि मोतीलाल के जन्म के समय वे दोनों जवान थे। अब उन लोगों ने फारसी के साथ अंग्रेजी पढ़ना शुरू कर दिया था। दिल्ली से आगरा आते समय कुछ अंग्रेज सिपाहियों ने उन्हें घेर लिया था। दोनों भाइयों की अंग्रेजी शिक्षा और वंशगत राजभक्ति के कारण ही परिवार की जान बची थी।

आगरा पहुंचने के थोड़े ही दिन बाद मोतीलाल के बड़े भाई बंसीधर ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। नौकरी के कारण जगह-जगह उनका तबादला होता रहता था, जिससे परिवार के साथ उनका संबंध कट-सा गया। जवाहरलाल के छोटे ताऊ नंदलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी-सी रियासत खेतड़ी के कोई दस साल तक दीवान रहे। बाद में उन्होंने नौकरी छोड़कर कानून पढ़ा और आगरे में वकालत शुरू कर दी। जब हाईकोर्ट आगरा से इलाहाबाद चला गया तो नेहरू-परिवार भी इलाहाबाद में जा बसा।

मोतीलाल नेहरू का लालन-पालन इसी दूसरे भाई नंदलाल नेहरू ने किया। बच्चों में सबसे छोटे होने के कारण मोतीलाल स्वभावतः मां के लाडले थे। जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' में दादी का यह शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है : "वह बूढ़ी थीं और बड़ी दबंग थीं। किसी की ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गए होंगे, मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियां अब भी उनको याद करती हैं और कहती हैं कि वह बड़ी जोरदार औरत थीं। अगर किसी ने उनकी मर्जी के खिलाफ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिए।"

मोतीलाल पहले कानपुर में और फिर इलाहाबाद में पढ़ते रहे। पढ़ने-लिखने के बजाय खेल-कूद में उनकी ज्यादा दिलचस्पी थी। कॉलेज में वह सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। 'मेरी कहानी' में जवाहरलाल ने लिखा है : "उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ हो गया था और सो भी उस वक्त जबकि हिंदुस्तान में कलकत्ता और बंबई जैसे बड़े शहरों को छोड़कर कहीं इसका चलन नहीं था। वह तेज मिजाज और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज प्रोफेसर उनको बहुत चाहते थे

और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसंद करते थे। उनकी बुद्धि तेज थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे।"

मोतीलाल ने मैट्रिक का इम्तहान इलाहाबाद में पास किया; लेकिन बी.ए. का इम्तहान देने के लिए आगरे जाना पड़ा। पहला ही पर्चा मन के माफिक नहीं हुआ; इसलिए इम्तहान छोड़-छाड़कर ताजमहल देखने चले गये। इसके बाद बी.ए. पास करने की नौबत ही नहीं आई।

उनकी रुचि कानून में थी। वकालत का इम्तहान दिया और वह अव्वल दर्जे में सफल हुए। कानपुर की अदालत में वकालत शुरू की और इतनी लगन तथा मेहनत से काम किया कि थोड़े ही दिनों में अपनी काबलियत का सिक्का जमा दिया। अब भी वह खेल-तमाशों के शौकीन थे और कुश्तियों में उनकी खास दिलचस्पी थी।

तीन साल के बाद वह भी कानपुर से इलाहाबाद आ गए और हाईकोर्ट में वकालत शुरू कर दी। इन्हीं दिनों बड़े भाई नंदलाल नेहरू की अचानक मृत्यु हो गई। अब सारे कुटुम्ब का बोझ मोतीलाल के कंधों पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जी-जान से जुट गये। बड़े भाई के करीब-करीब सभी मुकदमे उन्हें मिल गए और उनमें खूब सफलता प्राप्त हुई। छोटी ही उम्र में अपने पेशे में उन्हें इतनी नामवरी हासिल हुई कि मुकदमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया मेंह की तरह बरसने लगा। अब उन्होंने खेल-तमाशों और दूसरी सारी बातों से ध्यान हटाकर अपनी पूरी शक्ति वकालत में लगा दी थी। कांग्रेज चाहे उन दिनों उस मध्य वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों, डॉक्टरों और वकीलों ही की जमात थी, लेकिन मोतीलाल ने इस तरफ जरा भी ध्यान नहीं दिया। बेटा लिखता है :

"साधारण अर्थ में वह जरूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेजों और उनके तौर-तरीकों के कद्रदां थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ उसी के लायक भी हैं। जो राजनैतिक लोग बातें ही किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन ही मन कुछ नफरत-सी करते थे। हालांकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज्यादा और वे कर ही क्या सकते थे? हां, एक और खयाल भी उनके दिमाग में था, जो उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।"

खैर, ज्यों-ज्यों आमदनी बढ़ रही थी, रहन-सहन में भी परिवर्तन आ रहा था। मोतीलाल दिलेर तबियत के शाह-खर्च आदमी थे, फिर उन्हें अपने-आप पर यह भरोसा था कि जितना खर्च करेंगे उससे कहीं अधिक बात की बात में कमा लेंगे। नतीजा यह हुआ कि परिवार का जीवन देखते ही देखते पूर्ण रूप से विलायती सांचे में ढल गया।

इसी वातावरण में जवाहरलाल नेहरू का जन्म 14 नवंबर, 1889 को हुआ।

बचपन और शिक्षा

जवाहरलाल मोतीलाल के इकलौते बेटे थे, जाहिर है कि लाडले बेटे थे। विजय लक्ष्मी और कृष्णा जवाहरलाल की दो बहनें थीं, जो क्रमशः ग्यारह और चौदह साल बाद पैदा हुईं। वैसे नेहरू-परिवार एक भरा-पूरा परिवार था। जवाहरलाल के बहुत-से चचरे भाई-बहन थे। लेकिन उम्र में सब काफी बड़े थे और स्कूल जाते थे। जवाहरलाल उन सबका नन्हा-मुन्ना खिलौना था।

जवाहरलाल का लालन-पालन बिलकुल अंग्रेजी ढंग से हुआ और उनकी देख-रेख के लिए अंग्रेज आया रखी गयी। हर साल जवाहरलाल की वर्षगांठ बड़े धूम-धाम से मनाई जाती थी। उस दिन उन्हें गेहूं तथा दूसरे अनाज से एक बहुत बड़ी तराजू में तोला जाता था और यह अनाज गरीबों में बांट दिया जाता। मां अपने लाडले को अपने ही हाथों से नहला-धुलाकर नए कीमती कपड़े पहनाती, फिर जवाहरलाल को तरह-तरह के उपहार दिये जाते और रात को शानदार दावत होती थी, जिसमें शहर के रईसों और वकीलों के अलावा मोतीलाल नेहरू के अंग्रेज दोस्त भी शामिल होते थे।

जवाहरलाल को और बच्चों की तरह स्कूल नहीं भेजा गया, उनकी शिक्षा अंग्रेज महिलाओं द्वारा घर पर ही हुई। जब वह ग्यारह साल के हुए तो एफ.टी. ब्रुक्स नाम के एक अंग्रेज अध्यापक को उनकी शिक्षा के लिए नियुक्त किया गया। उस समय ये लोग 'आनंद भवन' में रहते थे, जो एक शाहाना महल था और मोतीलाल नेहरू ने हाल ही में बनवाया था।

ब्रुक्स भी उनके साथ ही आनंद भवन में रहता था। इस व्यक्ति की संगति ने जवाहरलाल को कई तरह से प्रभावित किया। पहली बात तो यह कि जवाहरलाल को किताबें पढ़ने की चाट लगी और उन्हें केरोल तथा किपलिंग की पुस्तकें खास तौर पर पसंद आईं। सर्वेंटीज का विख्यात उपन्यास 'डान क्विकजाट' भी इन्हीं दिनों पढ़ा।

दूसरे ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी जवाहरलाल का परिचय कराया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि आनंद भवन में विज्ञान की प्रयोगशाला खड़ी कर

ली गई थी, जिसमें वह घंटों वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करते थे, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

तीसरी बात यह है कि ब्रुक्स की संगत में जवाहरलाल पर थियोसॉफी का खब्त सवार हुआ और कुछ समय तक बड़े जोर से सवार रहा।

ब्रुक्स प्रसिद्ध कांग्रेस नेत्री मिसेज एनी बेसेण्ट की सिफारिश से जवाहरलाल का अध्यापक बना था। मिसेज बेसेण्ट भी थियोसॉफिस्ट[1] थीं और ब्रुक्स भी थियोसॉफिस्ट था। उसके कमरे में हर रोज थियोसॉफिस्टों की सभाएं हुआ करती थीं जिनमें 'अवतारों', 'काम-शरीरों', 'अलौकिक-शरीरों' और 'दिव्य पुरुषों' के आस-पास रहने वाले 'ब्रह्म-तेज' की चर्चा रहती थी और फिर यूनानी, ईरानी दार्शनिकों के अलावा बुद्ध-धर्म के धार्मिक ग्रंथों की भी महिमा गाई जाती थी। जवाहरलाल ने भी इन सभाओं में जाना शुरू किया और इन सभाओं का जो प्रभाव उन पर पड़ा, उसके बारे में 'मेरी कहानी' में लिखा है—"वह सब-कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था; परंतु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था, और मैं मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है।...मुझे 'काम-शरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी विमान के यों ही ऊंचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं।"

जवाहरलाल थियोसॉफिकल सोसायटी के सदस्य भी बन गये और खुद मिसेज बेसेण्ट ने उन्हें दीक्षा दी। लेकिन तीन साल बाद जब ब्रुक्स चला गया तब थियोसॉफी का खब्त भी जवाहरलाल के सिर से उतर गया। मगर उसका प्रभाव स्थाई रूप से बना रहा। इसी कारण वह हमेशा हवा में उड़ने के सपने देखते रहे और इसी कारण धार्मिक रहस्यवाद उनके विज्ञान में हमेशा गडमड रहा। दरअसल यह बात उनके वर्ग-स्वभाव से मेल खाती थी।

चौथा प्रभाव जवाहरलाल नेहरू पर ऐतिहासिक परिस्थितियों का पड़ा। जब उनकी उम्र पंद्रह साल थी रूस और जापान में युद्ध छिड़ गया। एशिया के लोगों की इस युद्ध में खास दिलचस्पी थी। जवाहरलाल ताजा अखबार पढ़ने के लिए उतावले रहते और जापानियों की विजय से उनका दिल उत्साह से भर जाता। इससे उनकी जापान में दिलचस्पी बढ़ी। उन्होंने सिर्फ जापान का इतिहास ही नहीं बल्कि पुराने वीर सरदारों की कहानियां भी रुचि से पढ़ीं।

जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' में अपने इस प्रभाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरोप के पंजे से एशिया और

---

1. थियोसॉफिस्ट ब्रह्मवाद के अनुयायी को कहते हैं। यह एक ऐसा धार्मिक सम्प्रदाय हैं, जो अवतारों में विश्वास करता है और भगवान के निकट पहुंचने के आध्यात्मिक आनंद में डूब जाना जरूरी समझता है।

हिंदुस्तान को आजाद करने के भावों में डूबा रहता था। मैं बहादुरी के बड़े-बड़े मनसूबे बांधा करता था कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिंदुस्तान को आजाद करने के लिए लड़ूंगा।"

और हम देखेंगे कि उन्होंने सिर्फ मनसूबे ही बांधे, तलवार की तरफ हाथ कभी नहीं बढ़ाया, बल्कि तलवार उठाने का हमेशा विरोध ही किया।

मई 1905 में उन्हें आगे पढ़ने के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया और वहां वह लंदन के हैरो स्कूल में भर्ती हो गये। इस स्कूल में अंग्रेज लार्डों और रईसों के लड़के पढ़ते थे। हिन्दुस्तानी राजे-महाराजे और नवाबों के लड़के भी प्रायः यहीं दाखिल होते थे। जब जवाहरलाल नेहरू भर्ती हुए तब भी चार-पांच हिन्दुस्तानी लड़के वहां पढ़ रहे थे। उनमें एक महाराजा बड़ौदा का लड़का था, जो जवाहरलाल से बहुत आगे था। दूसरा लड़का महाराजा कपूरथला का बड़ा बेटा परमजीतसिंह था। उसका स्वभाव बड़ा ही विचित्र था। लड़के उसके तौर-तरीकों का मजाक उड़ाते तो वह चिढ़कर धमकी देता कि जब तुम कपूरथला आओगे, तब मैं तुम्हारी खबर लूंगा। इस पर उसकी और भी हंसी उड़ती।

घर से दूर और अजनबियों के दरम्यान रहने का जवाहरलाल का यह पहला मौका था। पहले-पहल तो उनका मन वहां नहीं लगता था; पर धीरे-धीरे अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढाल लिया। स्कूल के कामों के अलावा, वह बाहर की दुनिया में भी दिलचस्पी लेने लगे।

उन दिनों हवाई जहाज उड़ना शुरू ही हुआ था। यह वह जमाना था, जब राइट ब्रदर्स ने हवाई जहाज का आविष्कार किया था। विज्ञान के आविष्कार में और खासकर हवाई जहाजों में जवाहरलाल की गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने एक बार जोश में भरकर पिता को लिखा कि वह दिन अब दूर नहीं, जब मैं हर इतवार की छुट्टी में हवाई जहाज द्वारा उड़कर आपसे मिलने हिन्दुस्तान आया करूंगा।

1905 के अंत में ब्रिटिश पार्लीमेंट के चुनाव हुए, जिनमें लिबरल पार्टी की भारी जीत हुई। जवाहरलाल नेहरू ने उसमें इतनी दिलचस्पी ली कि संसदीय चुनाव प्रणाली को बखूबी समझ लिया। बाद में उनके दर्जे के मास्टर ने इस संबंध में कुछ सवाल पूछे तो अंग्रेज लड़के भी उनका जवाब नहीं दे पाये। लेकिन जवाहरलाल ने सब सवालों का ठीक-ठीक जवाब दिया। उन्हें तो नए मंत्रिमंडल के करीब-करीब सभी सदस्यों के नाम भी मालूम थे।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए उन्हें एक पुस्तक इनाम में मिली। यह इटली के देशभक्त नेता गैरी बाल्डी से संबंधित थी। इस पुस्तक को पढ़ने से पता चला कि गैरी बाल्डी ने कैसे अपने देश को फ्रांस और आस्ट्रिया की गुलामी से आजाद किया था।

उन दिनों हिन्दुस्तान में भी बड़ी-बड़ी घटनाएं घट रही थीं और कांग्रेस का

रूप बदल रहा था। लार्ड कर्जन ने बंगाल को विभाजित करने की योजना बनाई थी और इसके विरुद्ध एक देशव्यापी आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। विदेशी कपड़े का बायकाट और स्वदेशी का इस्तेमाल इस आंदोलन का बड़ा नारा था। महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक, पंजाब के लाला लाजपतराय और बंगाल के विपिन चंद्र पाल इस आंदोलन में इतने प्रसिद्ध हुए कि हिन्दुस्तान भर में बाल, लाल और पाल—तीन नाम एक साथ लिए जाने लगे। इस आंदोलन की खबरें इंग्लैंड के अखबारों में कम छपती थीं, पर वह अपने चचेरे भाइयों से इनका पता लगाते रहते थे।

दो बरस हैरो में बिताकर जवाहरलाल अक्टूबर 1907 में केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पहुंच गये। तब उनकी उम्र सत्रह-अठारह बरस के करीब थी। जिंदगी ने लड़कपन बिताकर जवानी की देहरी पर कदम रखा था। और लिखा है—"मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचान वाला मिल जाता तो बड़ा खुश होता।"

केम्ब्रिज का माहौल हैरो से एकदम भिन्न था। यहां जवाहरलाल को जो लोग मिले, वे प्रायः सभी जवानी के नशे में ऐंठकर चलने वाले थे। वे अपनी विद्वता बघारने के लिए साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में, बढ़चढ़ कर बातें करते थे। कोई भी अपना अज्ञान दूसरे पर जाहिर नहीं करना चाहता था। इसलिए हर एक व्यक्ति बात-चीत में ऊंची किताबों के हवाले देता और बड़े-बड़े लेखकों तथा विचारकों के नाम गिनवाता था। जवाहरलाल ने प्राकृतिक विज्ञान का कोर्स लिया था, जिसके विषय रसायन शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र और वनस्पति शास्त्र थे। पर अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढालने और दूसरों की बात-चीत में सफलतापूर्वक भाग लेने के लिए उन्होंने भी साहित्य, दर्शन तथा इतिहास की पुस्तकें पढ़ीं। बर्नार्ड शॉ, आस्कर वाइल्ड और वाल्टर पेटर केम्ब्रिज के विद्यार्थियों के प्रिय साहित्यकार थे, पर जवाहरलाल के अपने शब्दों में "उन दिनों केम्ब्रिज में नीत्शे की धूम थी।" नीत्शे दुनिया का सबसे बड़ा सनकी दार्शनिक है। उसके नज़दीक 'झूठ सच, और सच झूठ है।' नैतिक मूल्यों को—नेकी-बदी को—सिर्फ निर्बल लोग ही मानते हैं, जो सबल है, अति मानव है, वह इन भ्रमों और बंधनों में नहीं पड़ता। उसका अपना आचरण ही नैतिकता है और वह कानून से ऊंचा है।

नीत्शे का दर्शन केम्ब्रिज के अंग्रेज लड़कों की मनोवृत्ति के ठीक अनुकूल था। ब्रिटिश साम्राज्य उन दिनों दुनिया का सबसे बड़ा साम्राज्य था, जिस पर सूर्य नहीं डूबता था। केम्ब्रिज में पढ़ने वाले साम्राज्य के चहेते बेटों में अति मानव की भावना उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक बात थी। यहां से निकलकर वे उपनिवेशों में शासक बनकर जाते थे। वहां की पिछड़ी हुई गरीब जनता पर जुल्म ढाना और उसे लूट-खसोटकर अपने और अपने सजातियों के लिए सुख-सुविधा के साधन जुटाना वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। नीत्शे का दर्शन उन्हें हर तरह की आत्मग्लानि से बचाये रखता

था। आस्कर वाइल्ड और वाल्टर पेटर का साहित्य भी नीति और धर्म के दमनकारी बंधनों से ऊपर उठकर आनंद से जीने की लालसा जगाता और भोगवाद की भावना को पुष्ट करता था।

जवाहरलाल ने अपने पर इस वातावरण के प्रभाव को 'मेरी कहानी' में यों व्यक्त किया है—"मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूरा तथा विविध आनंद लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इनकार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात क्यों समझूं? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मैं भी उस वक्त कुछ हद तक एक जुआरी था। पहले अपने रुपये का जुआरी और फिर बड़ी-बड़ी बाजियों का—जीवन के बड़े-बड़े आदर्शों का।" सारांश यह कि जवाहरलाल के संस्कार वही थे, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चहेते बेटों के।

जवाहरलाल जितने दिन इंग्लैंड में रहे, उनमें जीवन के सर्वोत्तम उपभोग और विविध आनंद लेने का रुझान बराबर बढ़ता रहा। 1910 में केम्ब्रिज से वह डिग्री लेकर निकले और कानून पढ़ने के लिए इनर टैम्पिल में भर्ती हुए। वहां उन्हें हैरो के कुछ पुराने दोस्त मिले। उनके साथ रहने से जवाहरलाल की आदतें और भी खर्चीली हो गईं। बाप खर्च के लिए काफी पैसा भेजता था, पर बेटा उससे ज्यादा खर्च कर डालता था। पैसे की कमी नहीं थी और विलासिता के सभी साधन मयस्सर थे।

केम्ब्रिज से निकलने के बाद जवाहरलाल के सामने जब यह सवाल आया कि उन्हें कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए तो बहुत समझ-सोचकर बाप का पेशा अपनाने का निर्णय लिया। वकालत पढ़ने में उन्हें खास दिक्कत नहीं हुई। इन दो सालों में वह लंदन में खूब इधर-उधर घूमे, आयरलैंड गये और जर्मनी, फ्रांस आदि यूरोप के देशों का भी भ्रमण किया।

1912 में उन्होंने बैरिस्टरी पास की और सात साल बाद इंग्लैंड से घर की ओर चले। वह हिन्दुस्तानी कम अंग्रेज ज्यादा थे।

स्वदेश वापसी

जवाहरलाल ने स्वदेश लौटकर हाईकोर्ट में वकालत शुरू की। शुरू-शुरू के दो-तीन महीने मेल-मुलाकातों और पुराने संबंध स्थापित करने में बड़े आनंद में बीते; पर धीरे-धीरे जीवन बेकार, उद्देश्यहीन और नीरस महसूस होने लगा। कारण वह खुद ही बताते हैं—"इंग्लैंड की अपनी सात बरस की जिंदगी में मेरी जो आदतें और जो भावनाएं बन गई थीं, वे, जिन चीजों को मैं यहां देखता था उनसे मेल नहीं खाती थीं। तकदीर से मेरे घर का वायुमंडल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शांति मिलती थी। परंतु उतना काफी न था। उसके बाद तो वही बार लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो उन्हीं पुराने विषयों पर, आमतौर पर कानूनी पेशे-संबंधी बातों पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्संदेह यह वायुमंडल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे में जीवन के बिलकुल नीरसपन का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद और प्रमोद की बातें भी न थीं।"

जवाहरलाल को जो पहला मुकदमा मिला, उसकी फीस पांच सौ रुपये थी। इस संबंध में मोतीलाल नेहरू का एक पत्र देखिए, जो उन्होंने 21 अक्टूबर, 1912 को बेटे के नाम लिखा था :

"प्रिय जवाहर,

एक अति जोशीले मुवक्किल ने तुम्हें फीस के रूप में 500 रु. का मनीआर्डर भेजा है और यह मंसूरी में तुम्हारे पास पुनः प्रेषित हुआ है। तुम्हारे पिता को जो पहली फीस मिली थी, वह 5 रु. थी। इससे स्पष्ट है कि तुम अपने पिता से सौ गुना ज्यादा हो। मुझे इच्छा होती है कि मैं अपने बजाय अपना बेटा होता। इस मुवक्किल का नाम राव महाराज सिंह है। वह कासगंज के हैं। हाईकोर्ट में उनके कई मुकदमे हैं और मुझे नहीं मालूम कि वह उनमें से किसमें तुम्हें नियुक्त करना चाहते हैं। पर यह धन तुम्हारा है और तुम्हारी माताजी को खुशी होगी कि तुम्हें यह पहली फीस के रूप में मिला। इस प्रकार से वह उस व्यक्ति के लिए दुहरे आनंद की बात

है, जिसने 5 रु. की फीस से शुरू किया।

—तुम्हारा प्रिय पिता''

इसी साल दिसम्बर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बांकीपुर में हुआ। जवाहरलाल ने डेलिगेट की हैसियत से इसमें भाग लिया और 'मेरी कहानी' में उसका यह चित्र प्रस्तुत किया है :

''बहुत हद तक वह अंग्रेजी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था, जहां सुबह पहनने के कोट और सुंदर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुतः वह सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनीतिक गर्मागर्मी न थी। गोखले, जो हाल ही में अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें उपस्थित थे। उस अधिवेशन के प्रमुख व्यक्ति वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहां आये उन थोड़े-से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे, जो राजनीतिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके संबंध में सोचते थे। मुझ पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।''

जवाहरलाल ने कांग्रेस का जो चरित्र प्रस्तुत किया है, गोखले का चरित्र उससे एकदम भिन्न है। क्या संस्था और नेता के चरित्र में इतना अंतर संभव है? क्या गोखले की तेजस्विता, सच्चाई और शक्ति का रहस्य यह था कि वह वायसराय की कौंसिल और पब्लिक सर्विस कमीशन का सदस्य था और अपनी इसी हैसियत से उसे फर्स्ट क्लास का डिब्बा रिजर्व कराने का हक हासिल था? इसी कारण जवाहरलाल भी उससे प्रभावित हुए, राजेन्द्र प्रसाद भी प्रभावित हुए और गांधी का तो वह राजनीतिक गुरु ही था।

इन लोगों की और गोखले की भूमिका को समझने के लिए हमें कांग्रेस इतिहास पर एक दृष्टि डालनी होगी।

यह हकीकत है कि 1885 में कांग्रेस की स्थापना ह्यूम नाम के कांग्रेसी ने उस समय के वायसराय लार्ड डफरिन के मशविरे से की थी। अधिवेशन के अंत में ह्यूम ने डेलिगेटों के सम्मुख प्रस्ताव रखा था कि हम ब्रिटिश साम्राज्य की मलिका को, जिसे हम सब प्रिय हैं, जिसके हम सब बेटे हैं और जिसकी मैं जूतियां सीधी करने के भी लायक नहीं हूं, तालियां बजाकर धन्यवाद दें।

कांग्रेस अधिवेशन की सरकारी रिपोर्ट में लिखा है कि इस पर इतनी तालियां बजीं कि ह्यूम का बाकी भाषण उनकी गूंज में डूब गया।

लगभग दस बरस तक कांग्रेस राजभक्त संस्था बनी रही, जिसमें डॉक्टर, वकील और उस वर्ग के दूसरे पढ़े-लिखे लोग इकट्ठे होते थे। वे हिन्दुस्तानियों को अधिक सरकारी नौकरियां, वायसराय की कौंसिल और प्रांतीय कौंसिलों में अधिक प्रतिनिधित्व दिये जाने की मांग करते थे। स्वशासन की, देश की आजादी की बात वे सोच ही नहीं सकते थे। इन लोगों का विश्वास था कि अंग्रेजों का भारत आना दैवी वरदान

हैं। वे हम असभ्यों को सभ्य बनाने आये हैं। हमें शिक्षा, संस्कृति और राजनीति के क्षेत्र में उनसे बहुत कुछ सीखना है। उनसे सहयोग करो। वे हमें सिखाकर आप-ही-आप चले जायेंगे।

गोविंद रानाडे, सर फिरोजशाह मेहता और गांधी का गुरु गोपालकृष्ण गोखले इन राजभक्तों के प्रमुख नेता थे।

लेकिन हर चीज दो में विभाजित होती है। वाद का प्रतिवाद पैदा होना स्वाभाविक है। कांग्रेस में भी 1893 के आसपास राष्ट्रवादी दल पैदा हो गया, जिसके नेता बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय और विपिन चंद्र पाल थे। तिलक का मत था कि अंग्रेज हमें कुछ सिखाने-विखाने नहीं आये, लूटने-खाने आये हैं। उन्हें अगर निकाला जा सकता है तो जनता की मदद से। इसलिए जनता को गोलबंद करो और उसकी चेतना का स्तर ऊंचा उठाओ।

इस तरह तिलक विचारधारा और रानाडे विचारधारा में परस्पर संघर्ष का सूत्रपात हुआ और कांग्रेस देशभक्तों और राजभक्तों में बंट गई।

बीसवीं सदी का प्रारंभ क्रांतिकारी शक्तियों के उभार से हुआ, जिसके बाहरी और भीतरी कारण थे। अंग्रेज सरकार ने 1905 में बंग-भंग योजना लागू की, जिसका उद्देश्य क्रांति की शक्तियों को कमजोर करना और साम्प्रदायिकता को हवा देना था। सारा बंगाल इसके विरोध में उठ खड़ा हुआ। राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में इस आंदोलन ने राष्ट्रव्यापी रूप धारणा किया और देखते-ही-देखते इतना जोर पकड़ा कि बाल, लाल, पाल के नाम कश्मीर से कन्याकुमारी तक गूंज उठे।

इसी वातावरण में 1906 का कांग्रेस अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, जिसमें बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज का चार सूत्री कार्यक्रम राजभक्तों के विरोध के बावजूद पास हुआ।

1907 में कांग्रेस का 23वां अधिवेशन सूरत में हुआ। वहां देशभक्तों और राजभक्तों में डटकर लड़ाई हुई, कुर्सियां चलीं, डण्डे चले और परिणाम यह कि कांग्रेस विभाजित हुई। झगड़ा चाहे अध्यक्ष के चुनाव को लेकर शुरू हुआ था, पर असल बात यह थी कि राजभक्त कलकत्ता के चार सूत्री कार्यक्रम से पीछे जाना चाहते थे जवकि देशभक्तों को पीछे जाना स्वीकार नहीं था।

राजभक्तों को माडरेट अर्थात नर्म दल कहकर उनके गुनाहों पर पर्दा डाला गया और देशभक्तों को, जैसा कि सरकार का दस्तूर है, गर्म दल अथवा उग्रवादी कहकर बदनाम किया गया।

1907 अठारह सौ सत्तावन की अर्ध शताब्दी का बरस था। इधर बंग-भंग विरोधी आंदोलन और उधर पंजाब में न्यू कॉलोनी एक्ट के विरुद्ध, पगड़ी संभाल जट्टा, किसान आंदोलन जोरों पर था। अंग्रेज शासक इससे इतने आतंकित थे कि उन्हें अपनी बस्तियों से बाहर निकलना मुश्किल हो गया था। भारत मंत्री मॉर्ले ने

राजभक्त माडरेटों और मुस्लिम लीग को यूनियन जैक के तले इकट्ठा करके देशभक्तों के विरुद्ध दमनचक्र चलाया।

एक कानून पास करके राजनीतिक जलसों पर रोक लगा दी और एक नया सख्त प्रेस एक्ट बनाकर अखबारों पर प्रतिबंध बढ़ा दिये। राष्ट्र दल के नेताओं को लम्बी-लम्बी सजायें दी गईं और कुछ गिरफ्तारी से बचकर विदेश चले गये। पुलिस को जुल्म ढाने की खुली छूट दे दी गई, मीटिंगें भंग की गईं, पंजाब के किसान विद्रोहों को निर्दयता से कुचला गया और राष्ट्रीय गीत गाने के लिए स्कूल के बच्चों तक को गिरफ्तार किया गया। अकेले बंगाल में 1906 और 1909 के दरम्यान 550 राजनैतिक मुकदमे चलाये गये।

दूसरी ओर माडरेटों को खुश करने के लिए 1909 में मॉर्ले-मिंटो योजना की घोषणा की गई। इस योजना के अनुसार सेंट्रल लेजिस्लेटिव कौंसिल में और प्राविंशियल कौंसिलों में अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुने गये भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ा दी गई। इन कौंसिलों को कोई अधिकार नहीं थे। उनके सदस्य वायसराय और गवर्नरों को सिर्फ सलाह दे सकते थे। इसके अलावा 1911 में बंग-भंग का प्रस्ताव भी वापस ले लिया और न्यू कॉलोनी एक्ट भी रद्द करना पड़ा। कांग्रेस पर अब माडरेटों का कब्जा था। उसके प्रवक्ता ने बयान दिया कि "हर एक दिल ब्रिटिश सिंहासन के प्रति श्रद्धा और भक्ति से धड़क रहा है और ब्रिटिश राजनीति के प्रति विश्वास और कृतज्ञता दुगुनी बढ़ गई है।"

गिरफ्तारियों और दमन के परिणामस्वरूप क्रांतिकारी आंदोलन भूमिगत चला गया और राजनीति में एक नई शक्ति का उदय हुआ। आंदोलन के दबाव ही से सरकार को बंग-भंग योजना और न्यू कॉलोनी एक्ट वापस लेना पड़ा था। यह हमारे राष्ट्रवाद की ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर पहली शानदार विजय थी। इस पर गर्व करने की बजाय राजभक्त माडरेटों ने ब्रिटिश राजनीति के प्रति विश्वास और कृतज्ञता दर्शाई।

जवाहरलाल जब केम्ब्रिज में थे तो वहां हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों की 'मजलिस' नाम की एक संस्था थी, जिसमें वे राजनैतिक समस्याओं पर विचार करते और भाषण देते थे। उस समय वे सब लोग बिना किसी अपवाद के गर्म दल के समर्थक थे और उन्हें राजभक्तों अर्थात् माडरेटों से चिढ़ थी।

मोतीलाल नेहरू 1888 ही से कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेते आ रहे थे। 1906-7 में उन्हें परिस्थितिवश अधिक सक्रिय होना पड़ा। कारण यह कि वे भी माडरेट थे और कलकत्ता प्रस्ताव के विरुद्ध भाषण करना ही उनकी सक्रियता थी। वकील जवाहरलाल नेहरू बंगाल और महाराष्ट्र के गर्म दलियों की वह कड़ी आलोचना किया करते थे। पिता की यह बात उनको पसंद नहीं थी और अपने एक पत्र में पिता के एक लेख की आलोचना करते हुए लिखा था कि आपकी राजनीतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। बेटे का यह पत्र पढ़कर मोतीलाल बहुत

झुंझलाये। करीब-करीब यहां तक सोच लिया कि जवाहरलाल को इंग्लैंड से वापस बुला लें।

लेकिन जवाहरलाल वापस आकर जिस कांग्रेस में शामिल हुए, उस पर माडरेटों का कब्जा था और गोखले उसका प्रमुख नेता था। उसने भारत-सेवक समिति नाम की एक संस्था भी संगठित कर रखी थी। जो लोग इसके सदस्य बनते थे, वे निर्वाह-मात्र पर अपना पूरा समय देश-सेवा में लगाते थे। गोखले की इस समिति ने भी जवाहरलाल का ध्यान आकर्षित किया और उसके सदस्यों की उनके दिल में बड़ी इज्जत थी, क्योंकि "वह एकाग्रचित्त होकर लगातार काम करते थे।" लेकिन वह खुद इसके सदस्य इसलिए नहीं बन पाये कि "उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नर्म थी और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था।"
(मेरी कहानी, पृष्ठ 56)

राजनीति में उन दिनों वाकई कोई खास गर्मी नहीं थी। जवाहरलाल नेहरू अपनी वकालत करते और शिकार से जी बहलाते रहे। देश में नौजवानों के जो क्रांतिकारी गुप्त दल बने हुए थे, जिन पर सरकार की कड़ी नजर थी, उनकी ओर जवाहरलाल का ध्यान जाता तो निश्चित रूप से उनके वकालत के पेशे में और विनोद-प्रमोद में विघ्न पड़ता।

1914 में विश्व-युद्ध शुरू हुआ तो राजनीति में एकदम हरकत आई। ब्रिटिश सरकार ने भारत रक्षा कानून पास करके झट अपना शिकंजा कसा। क्रांतिकारी दलों के जुझारू नेताओं को या तो गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया या देश से निर्वासित कर दिया। कांग्रेस ने चट युद्ध में हर तरह के समर्थन का प्रस्ताव पास करके ब्रिटिश सम्राट के प्रति अपनी वफादारी का सबूत दिया।

तिलक को सरकार ने अपने अखबार में प्रकाशित एक लेख के लिए 1908 में छः साल की सजा दी थी और बर्मा में मॉडले जेल में भेज दिया था। वह वहां से हाल ही में छूटकर आए थे। उन्होंने और मिसेज एनी बेसेण्ट ने अलग-अलग होमरूल लीगें कायम कीं। जवाहरलाल इन दोनों के सदस्य बन गये, लेकिन काम उन्होंने मिसेज बेसेण्ट ही की लीग में किया। वह उच्च वर्ग की एक अंग्रेज महिला थीं। हिन्दुस्तान की राजनीति में उनकी खास दिलचस्पी थी और वह उसे अपने ही ढंग से चला रही थीं। वह गुलाम हिन्दुस्तानियों का उपकार कर रही थीं या अंग्रेज शासकों का, उनके बारे में यह बात विशेष रूप से समझने की थी। पर जवाहरलाल ने इस तथ्य पर कोई प्रकाश नहीं डाला हालांकि नेहरू-परिवार से उनके पुराने गहरे संबंध थे। जवाहरलाल ने थियोसॉफी की दीक्षा भी उन्हीं के हाथों ली थी।

हिन्दुस्तान की अंग्रेज सरकार ने उन दिनों अपनी सारी शक्ति समुद्र पार लड़े जा रहे युद्ध में लगा रखी थी। गांवों में किसानों की जबरी भर्ती शुरू कर दी थी। शहर में मध्य वर्ग के लोगों को साथ लेने के लिए उसने 'यूरोपियन डिफेंस फोर्स'

ढंग की 'इंडियन डिफेंस फोर्स' का संगठन बनाया था। लोगों को इसके बारे में कई तरह की शिकायत थीं। पहली शिकायत तो यह थी कि इसमें गोरे-काले का भेद-भाव बरता जाता था। अतएव यूरोपियन डिफेंस फोर्स के साथ जो व्यवहार किया जाता था, वह इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फोर्स के साथ बिलकुल नहीं किया जाता था। यों भी लोगों को इसमें भर्ती होना पसंद नहीं था, क्योंकि वे अपने अंग्रेज शासकों से नफरत करते थे, युद्ध में उसकी जीत के बजाय हार चाहते थे और जर्मन पेशकदमी की खबरें सुनकर खुश होते थे। स्वाभाविक बात थी कि वे इस फोर्स से सहयोग करने को तैयार न थे।

लेकिन मिसेज बेसेण्ट की होमरूल के सदस्यों ने, जिनमें जवाहरलाल भी शामिल थे, बहुत बहस के बाद संयुक्त-प्रांत की इस फोर्स के साथ सहयोग करना ही तय किया। तर्क यह था कि इन हालतों में भी देश के नौजवानों के लिए यह अच्छा मौका है कि वह फौजी शिक्षा ग्रहण करें। जवाहरलाल ने भी इस फोर्स में भर्ती होने के लिए अपनी अर्जी भेज दी और अपनी तजवीज को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से इलाहाबाद में एक कमेटी भी संगठित कर ली। मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू, सर सी.वाई. चिंतामणि तथा ऐसे ही दूसरे माडरेट लीडर इस कमेटी के सदस्य थे।

जाने क्यों उन्हीं दिनों सरकार ने मिसेज बेसेण्ट को यकायक गिरफ्तार करके भारत रक्षा कानून के अंतर्गत नजरबंद कर दिया। जवाहरलाल का कहना है कि उस क्षण के जोश में उन्होंने कमेटी के सदस्यों के सामने यह प्रस्ताव रखा कि सरकार की इस नजरबंदी वाली हरकत के विरोध स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिलसिले के सब काम बंद कर दिये जायें और इस आशय का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। जवाहरलाल का यह भी कहना है कि लड़ाई के दिनों में ऐसा आक्रामक कार्य करने के लिए इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज बेसेण्ट की नजरबंदी के बाद मोतीलाल नेहरू और कुछ माडरेट लीडर होमरूल लीग में शामिल हो गए। कुछ महीने बाद ज्यादातर माडरेट नेताओं ने लीग से इस्तीफा दे दिया। पर मोतीलाल नेहरू बराबर उसके सदस्य बने रहे और उसकी इलाहाबाद शाखा के अध्यक्ष भी बन गये।

इस संबंध में गांधी की गतिविधियों पर एक नजर डाल लेना भी दिलचस्पी से खाली नहीं होगा। वह इन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रीका से लंदन आये। वहां होटल सेसिल में उनका शानदार स्वागत हुआ। उन्होंने भारतीय नौजवानों से अपील की कि इस संकट-काल में वे अपनी 'राजभक्ति' का परिचय दें। उन्होंने अपने और दूसरे हिन्दुस्तानियों के हस्ताक्षरों से एक पत्र भारत-मंत्री को भिजवाया जिसमें ब्रिटिश अधिकारियों को युद्ध के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कीं।

यह बात जग-जाहिर है कि इसके बाद गांधी ने लंदन में हिन्दुस्तानियों की एक वालन्टियर एम्बुलेन्स कोर संगठित की। फिर वह हिन्दुस्तान चले आए (जनवरी

1915) और वायसराय से पत्र-व्यवहार करने के बाद गुजरात के किसानों में 'फौज में भर्ती होकर स्वराज्य प्राप्त करो' अभियान चलाया। वह जुलाई 1918 तक बराबर इसी काम में लगे रहे।

कांग्रेस ने चूंकि सरकार को युद्ध में अपने पूर्ण सहयोग का विश्वास दिलाया था, इसलिए युद्ध के चार सालों में सरकार की भी कांग्रेस पर विशेष कृपा-दृष्टि रही। 1914 के वार्षिक अधिवेशन में मद्रास के गवर्नर लार्ड पेन्टलैंड, 1915 के अधिवेशन में बम्बई प्रांत के गवर्नर लार्ड विलन्गडन और 1916 के अधिवेशन में संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर जेम्स मेस्टर शामिल हुए। इन अंग्रेज गवर्नरों का निहायत जोशीली तालियों से स्वागत किया जाता था।

कांग्रेस की राजनीति में एक विशेष परिवर्तन यह आया कि 1916 की लखनऊ कांग्रेस में राष्ट्रवादी और राजभक्त नेता एक मंच पर इकट्ठे हो गए और यहीं कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता हो गया। जवाहरलाल का कहना है कि लखनऊ के इस अधिवेशन में जो संयुक्त कांग्रेस-लीग योजना मंजूर हुई, वह उन्हीं के घर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में बनी थी।

योजना यह थी कि निकट भविष्य में ब्रिटिश सरकार से जो कुछ मिलने वाला है, उसमें किसका कितना हिस्सा होगा। इन लोगों को अपनी युद्ध सेवाओं के एवज बहुत-कुछ पा जाने की आशा थी।

यह हमारे कायदे-क़ानूनों को मानने वाले और फूंक-फूंककर कदम रखने वाले वकीलों की, उच्चवर्गीय राष्ट्रीय नेताओं की राजनीति थी। इसके विपरीत बंगाल के रासबिहारी और शचींद्र सान्याल आदि क्रांतिकारी नेता पंजाब की गदर पार्टी के नेताओं से मिलकर एक विराट विद्रोह की तैयारी में जुटे हुए थे। वे 1857 की परंपरा पर चलते हुए जंग में उलझी हुई ब्रिटिश सरकार का तख्ता उलट देने की फिक्र में थे। मन्मथनाथ गुप्त अपनी पुस्तक 'भारतीय क्रांति दल आंदोलन का इतिहास' में लिखते हैं :

"नेतागण ढाका से लेकर लाहौर तक विद्रोह की तैयारी में लगे हुए थे। ढाका में उन दिनों सिख सेना थी। लाहौर के षड्यंत्रकारी सिख सैनिकों ने ढाका के सिखों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए परिचय-पत्र भेज दिए। ढाका के क्रांतिकारी नेता अनुकूल चक्रवर्ती उन पत्रों को लेकर ढाका के सिख सैनिकों से मिले।...सिख सैनिक विद्रोह की बात सुनकर शिरकत करने के लिए उत्सुक हो गए।...

मैमनसिंह और राजशाही के सरूल नामक जंगल में क्रांतिकारी संध्या के बाद कवायद करते थे। आक्रमण और रण-कौशल सीखने का सब लोग प्रयास करने लगे। जिलों में बंदूकें चुराने की होड़ मच गई। चारों ओर अफवाह फैला दी गई कि अबकी बार मैट्रिक्युलेशन और विश्वविद्यालय की दूसरी परीक्षाएं नहीं होंगी।"

क्रांति शुरू करने के लिए 21 फरवरी, 1915 का दिन भी निश्चित कर दिया

गया था। लेकिन गद्दार कृपालसिंह की मुखविरी से यह भेद खुल गया। सैकड़ों क्रांतिकारी गिरफ्तार हुए। बहुतों को फांसी हुई, बहुतों को उम्र कैद की सजा देकर जेलों में डाल दिया गया।

जवाहरलाल ने संयुक्त कांग्रेस-लीग योजना का, बहुत-सी छोटी-छोटी बातों का और विशेषकर लखनऊ अधिवेशन में गांधी से अपनी पहली मुलाकात का जिक्र बड़े गर्व से किया है; लेकिन क्रांतिकारियों की इस इतनी बड़ी घटना का जिक्र करना उन्होंने मुनासिब नहीं समझा। शायद इसलिए कि वह उनकी तबीयत के माफिक नहीं थी और उनके 'कैरियर' में फिट नहीं होती थी। वह लिखते हैं : "पिताजी कभी-कभी खयाल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक कार्य की तरफ जा रहा हूं, जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख्यार किया था। इससे वह बहुत ही चिंतित रहते थे, जबकि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ था नहीं। हां, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप बर्दाश्त नहीं करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना जरूर चाहिए।" (मेरी कहानी, पृष्ठ 61)

आगे चलकर हम इस 'कुछ-न-कुछ' को भी देखेंगे और यह भी देखेंगे कि मोतीलाल के मन में ऐसी कोई चिंता न थी। उन्होंने अपने विलायत पास बेटे की लिबरल आत्मा को खूब पहचान लिया था। पहचाना नहीं तो दूर के लोगों ने, जो उनकी गरम-गरम बातों में आ जाते थे।

नेता और जनता

युद्ध के समाप्त होते-होते हिन्दुस्तान ने एक भयंकर ज्वालामुखी का रूप धारण कर लिया, जिसमें से जहां-तहां स्वतः लपटें फूट पड़ती थीं। समूची जनता में असाधारण असंतोष फैला हुआ था।

युद्ध के दिनों में विदेशों से माल आना बंद हो गया था और सरकार की जरूरतें बढ़ गई थीं। इसलिए भारतीय उद्योगों की और विशेषकर कपड़े और लोहे के उद्योगों की जो तरक्की हुई थी, उससे बड़े कारखानेदार मालामाल हो गये थे। वे अपनी बचत के धन को और बढ़ाने और उसे नए धंधों में लगाने के सपने देख रहे थे। यह तभी संभव था जब विदेशी साम्राज्य की गिरफ्त ढीली हो।

नए-नए कल-कारखाने लग जाने से मजदूरों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पैसा तो कुछ ऊपर के लोगों ने ही कमाया था। आम जनता पर तो अतिरिक्त करों तथा लगान का बोझ ही बढ़ा था और बढ़ती हुई महंगाई ने कमर अलग तोड़ दी थी। मजदूरों, किसानों और मध्यवर्ग में सख्त बेचैनी थी। सिपाही जो युद्ध के मोर्चे से लौटकर आये थे, पहले-से 'जो हुक्म' वाले सिपाही नहीं रहे थे। उनका ज्ञान और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशांति थी। 1915 में क्रांति के प्रयास विफल बना दिये जाने के बाद भी फौज में बराबर बगावतें होती रही थीं और उनके कारण सरकार बहुत परेशान थी।

फिर रूस की महान् अक्टूबर क्रांति ने दुनिया को हिला दिया था। सदियों से पिसते आ रहे मेहनतकश अवाम में नया जोश और उत्साह पैदा हुआ था। उनके सामने अपने शोषकों और शासकों से क्रांति द्वारा मुक्ति पाने का मार्ग खुल गया था।

महायुद्ध और रूसी क्रांति के कारण पूर्व के सभी उपनिवेशों में राष्ट्रीय आंदोलन की लहर बहुत ऊंची उठ गई थी।

ऐसे में नेताओं के लिए 'कुछ-न-कुछ' करना जरूरी था और इस कुछ-न-कुछ की शुरूआत यों हुई कि जनवरी 1919 में सरकार ने केन्द्रीय असेम्बली में रोलट बिल

पेश किया। इसमें कानूनी कार्रवाई किये बिना ही गिरफ्तार करने और जेल में डाल देने की धाराएं रखी गई थीं। गांधी ने वायसराय से प्रार्थना की कि सरकार इस बिल को कानून न बनाये। गांधी की यह प्रार्थना कैसे मान ली जाती? सरकार राष्ट्रीय आंदोलन की बढ़ती हुई लहर को दमनकारी कानूनों द्वारा कुचलने की तैयारी कर रही थी। रोलट बिल को मार्च में कानून बना दिया गया।

गांधी ने रोलट एक्ट के विरुद्ध नाराजगी जाहिर करने के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह की योजना बनाई। गांधी दक्षिण अफ्रीका में अहिंसात्मक सत्याग्रह का काफी अनुभव प्राप्त कर चुके थे। इसका मतलब था दमन की शक्ति को शांतिपूर्ण ढंग से चुनौती देना और जो कानून हमें पसंद नहीं है, उसे तोड़कर जेल जाना, इसी आधार पर गांधी ने एक सत्याग्रह सभा बनाई। उसके सदस्यों से यह प्रतिज्ञा कराई जाती थी कि वे सरकार द्वारा उत्तेजना दिलाई जाने पर भी शांत रहेंगे और रोलट कानून की अवहेलना करके जेल जायेंगे।

जवाहरलाल लिखते हैं : "जब मैंने अखबारों में यह खबर पढ़ी तो मुझे बड़ा संतोष हुआ। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला था। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला, जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा..."

वह तुरंत सत्याग्रह सभा में भर्ती होने को तैयार हो गये; पर मोतीलाल ने घोर विरोध किया। जवाहरलाल ने इसके दो कारण बताये हैं : एक तो यह कि वह नए-नए प्रस्तावों में बह जाने वाले न थे। कोई नया कदम बढ़ाने से पहले वह उसके नतीजों को अच्छी तरह सोच लिया करते थे। दूसरा कारण यह कि वह अपने बच्चों से बहुत प्यार करते थे और उन्हें जवाहरलाल का जेल जाना बहुत नागवार मालूम होता था। दरअसल पहला ही कारण ठीक मालूम होता है, क्योंकि जब जेल जाने का समय आया तो जवाहरलाल को भेजा और खुद भी गये। उन्होंने गांधी की भूमिका और सत्याग्रह की नीति को तब तक समझा नहीं था। उन्होंने 27 फरवरी, 1920 को जवाहरलाल के नाम एक खत में लिखा था :

"जहां तक गांधी के राजनैतिक विचारों का प्रतिपादन करने की बात है, मैं उनके प्रति आदर रखते हुए भी उन विचारों को महज इसलिए मानने को तैयार नहीं हूं कि वे उनके विचार हैं। मैं दास को पहले ही सचेत कर चुका हूं कि हमें जोरदार खींचतान के लिए तैयार रहना चाहिए। गांधीजी शास्त्री (श्रीनिवास शास्त्री) से बातें करने दिल्ली जा रहे हैं। उनका मालवीय से लगातार ताल्लुक और उनसे आम रजामंदी हमारे दल के लिए अच्छी निशानी नहीं है और न खुद गांधीजी के ही लिए वह बहुत शुभ है। अपनी लोकप्रियता पर हद से ज्यादा भरोसा करना ठीक नहीं है। मिसेज बेसेंट इसकी कीमत चुका रही हैं और दूसरों के साथ भी ऐसा ही हुआ है। मुझे बहुत दुःख होगा अगर यही बात गांधीजी के साथ हुई। अपनी मौजूदा हालत में मुझे किसी

के भी राजनैतिक विचारों से झगड़ा करने का अधिकार नहीं; फिर गांधीजी और मालवीयजी जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों से झगड़े की बात तो और भी कम है; लेकिन जिस ढंग से देश शक्ल अख्यार कर रहा है, उसकी तरफ से मैं आंखें नहीं मूंद सकता। अधिकारियों या नर्म दल वालों से समझौता करने की कोशिश का नतीजा बरबादी होगा, भले ही वह किसी के जरिये हो। जो हालत है उसके वारे में मेरी अपनी राय तो यह है।"

यह खत उन्होंने आरा से लिखा था। इससे देश की भावी राजनीति और गांधी के बारे में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

जाहिर है कि वह गांधी के सत्याग्रह के रास्ते को पसंद नहीं करते थे और वह उनकी नीतियों को समझौतापरस्ती की सुधारवादी नीतियां मानते थे और इस खत के लिखते समय तक मानते रहे। लेकिन जवाहरलाल ने अपने दिल में सत्याग्रह के रास्ते पर चलने का निश्चय कर लिया था और इस बात को लेकर बाप-बेटे में काफी संघर्ष रहा।

आखिर मोतीलाल ने गांधी को इलाहाबाद बुलाया। दोनों में बड़ी देर तक बातें हुईं। उसके बाद खुद गांधी ने जवाहरलाल को सलाह दी कि वह जल्दी में कोई ऐसा काम न करें, जो पिता को असह्य हो।

लेकिन सत्याग्रह की नौवत ही नहीं आई। घटनाओं ने दूसरा ही रास्ता अख्यार कर लिया।

गांधी ने सार्वजनिक विरोध प्रदर्शित करने के लिए छः अप्रैल का दिन मुकर्रर किया था, जिसे बाद में तेरह अप्रैल कर दिया गया। दोनों दिन छुट्टी के थे। तीली दिखाने की देर थी ज्वालामुखी फट पड़ा। देश-भर में हड़तालें हुईं और तमाम काम-काज बंद हो गया। दिल्ली, अमृतसर और अहमदाबाद में पुलिस और फौज ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाई। इससे लोगों का क्रोध और भड़क उठा। उन्होंने भी सरकार की बर्बर दमनकारी शक्ति पर जवाबी हमले किये। कुछ बैंक और दूसरी सरकारी इमारतें फूंक डालीं।

अमृतसर जलियांवाला वाग हत्याकाण्ड इसी दिन की घटना है। वहां इस नाम के एक बाग में जलसा हो रहा था। हजारों आदमी जमा थे। बाहर निकलने के लिए सिर्फ एक छोट-सा रास्ता था। जनरल डायर ने उस पर तोपें लगा दीं और लोगों को बिखर जाने की चेतावनी दिये विना ही गोली चलाने का हुक्म दे दिया। अंधा-धुंध कोई 1600 राउंड चलाये गये। हपड़ा-दपड़ी में कुछ लोग एक-दूसरे के पांव तले कुचले गये, पास ही एक कुआं था, कुछ उसमें गिर पड़े। एक तरफ एक छोटी-सी दीवार थी, लोगों ने जव उसे फांदकर निकल जाने की कोशिश की तो तोपों और बंदूकों का रुख उस तरफ फेर दिया गया। उस दीवार पर अब तक गोलियों के निशान मौजूद हैं।

इस हत्याकांड में कितने लोगों की जानें गईं यह अंदाजा लगाना मुश्किल था। लेकिन सरकारी रिपोर्ट ही के अनुसार 372 व्यक्ति मरे और 1200 घायल हुए। ये आंकड़े भी घटना की भयंकरता को सिद्ध करने के लिए कम नहीं हैं। डायर ने सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमेटी के सामने बयान देते हुए कहा था—"मैं सैनिक दृष्टिकोण से न सिर्फ उन लोगों पर जो वहां मौजूद थे बल्कि पूरे पंजाब की जनता पर नैतिक प्रभाव पैदा करना चाहता था।" अर्थात उन्हें आतंकित करना चाहता था। इंग्लैंड के हाऊस ऑफ लार्डस ने डायर को अपने इस 'कारनामे' के लिए बीस हजार पौंड का पुरस्कार दिया।

लेकिन पंजाब की वीर जनता और समूचे देश की जनता आतंकित होने के बजाय अपना खून चूसने वाले विदेशी शासकों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद और दूसरे स्थानों पर अंग्रेजी सरकार पर जबरदस्त हमले शुरू हो गये। सर वालेंटाइन चिरोल के शब्दों में : "आंदोलन ने ब्रिटिश राज के विरुद्ध एक संगठित विद्रोह का रूप धारण कर लिया।"

लेकिन गांधी इस पर खुश होने के बजाय बिगड़ बैठे। उन्होंने एक ही सप्ताह बाद आंदोलन वापस ले लिया और एक बयान में कहा—"मैंने हिमालय जितनी बड़ी गलती की, जिससे सच्चे सत्याग्रहियों को नहीं, बल्कि उपद्रवियों को अव्यवस्था फैलाने का अवसर मिला।" 21 जुलाई को प्रेस के नाम एक खत में लिखा, "सत्याग्रही का आशय सरकार को परेशान करना कभी नहीं होता।"

1909 की तरह अंग्रेज सरकार ने अब भी एक ओर क्रांतिकारी जनता को कुचलने के लिए दमनचक्र चलाया और दूसरी ओर माडरेटों को लुभाने के लिए माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों का टुकड़ा फेंका। इन सुधारों को कानून 1919 में बनाया गया; लेकिन घोषणा 1917 में कर दी थी। माडरेटों ने हृदय से घोषणा का स्वागत किया था और उन्होंने 1918 में कांग्रेस से निकलकर लिबरल फेडरेशन नाम की एक अलग संस्था बना ली थी।

1919 का हिन्दुस्तान 1909 के हिन्दुस्तान से एकदम भिन्न था। स्थिति में भारी परिवर्तन आ चुका था। जैसा कि मोतीलाल ने बेटे के नाम अपने उक्त पत्र में लिखा है, किसी भी नेता के लिए इस परिवर्तन को नजरअंदाज करना अपने लिए राजनैतिक मौत सहेजना था। इसलिए 1909 के बहुत-से माडरेट अब कांग्रेस ही में टिके रहे। (इसमें संदेह नहीं कि उनमें से कई समय के साथ आगे भी बढ़े थे।) लिबरल फेडरेशन में बहुत कम लोग गये, जो गये वे सरकार के पिट्ठू अथवा ठोडी कहलाये।

माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों को स्वीकार या अस्वीकार करने के सवाल पर कांग्रेस में भी तीव्र मतभेद था। सी.आर.दास और मोतीलाल नेहरू उन्हें ठुकरा देने वालों के नेता थे, जबकि गांधी और मिसेज बेसेण्ट सरकार के साथ सहयोग करने के पक्ष में थे। गांधी ने मार्शल-ला, जलियांवाला बाग, कलकत्ता, बम्बई और अहमदाबाद की

घटनाओं के बाद भी 31 दिसंबर, 1919 को अपने अखबार 'यंग इंडिया' में लिखा था :

"सुधार, कानून और घोषणा हिन्दुस्तान के साथ न्याय करने की ब्रिटिश लोगों की नीयत की सच्चाई का प्रमाण है...इसलिए हमारा कर्त्तव्य सुधारों की कड़ी आलोचना करना नहीं बल्कि हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम उन्हें सफल बनाने के लिए चुपचाप काम शुरू कर दें।"

इधर सरकार से सहयोग की सलाह दी जा रही थी, उधर शोषित जनता क्रांति के पथ पर तेजी से आगे बढ़ रही थी। दिसंबर 1918 में बंबई के मिल मजदूरों ने हड़ताल शुरू की, जो इतनी व्यापक थी कि जनवरी में हड़ताली मजदूरों की संख्या 125000 तक पहुंच गई थी। जैसे-जैसे जंग के बाद का आर्थिक संकट बढ़ता गया, जनता का असंतोष भी बढ़ता गया। 1920 के अंत तक इस संकट ने भयानक रूप धारण कर लिया था। इस वर्ष के सिर्फ पहले छः महीनों में 200 हड़तालें हुईं, जिनमें पंद्रह लाख मजदूरों ने भाग लिया।

देहात में किसानों की जो हालत थी, सरकार और जमींदारों के हाथों जो शोषण हो रहा था, उससे वे अपने आप विद्रोह के लिए उठ खड़े हुए थे। उन दिनों के किसान-विद्रोह का अंदाजा उस एक घटना से सहज में लग जाएगा, जो खुद जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' में बयान की है।

जून के शुरू में कोई 200 किसान प्रतापगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये ताकि अपने दुखों और मुसीबतों की कहानी खास-खास नेताओं को सुनायें। बाबा रामचंद्र नाम के एक व्यक्ति उनके अगुवा थे और ये लोग जमुना के तट पर डेरा डाले हुए थे। जवाहरलाल कुछ मित्रों को साथ लेकर उनसे मिलने गये। किसानों ने बताया कि ताल्लुकेदार जोर-जुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुषी व्यवहार है और कैसी उनकी असह्य हालत हो गई है।

किसानों की प्रार्थना पर जवाहरलाल अपने साथियों समेत देहात में भी गये ताकि जो हालत थी उसे अपनी आंखों देखें। तीन दिन वहां रहकर जो कुछ देखा उसका वर्णन यों किया है :

"हमने देखा, सारे देहाती इलाकों में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है। जरा जबानी कह दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठा हो गये। एक गांव से दूसरे गांव और दूसरे से तीसरे गांव, इस तरह सब गांवों में संदेश पहुंच जाता और देखते-देखते सारे गांव खाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभा-स्थल पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते...।

...और वे हमें आशा तथा प्रेम-भरी आंखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ संदेश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुंचा देंगे।"

और आगे लिखा है :

"जो लोग वहां आये थे, उनमें से बहुतों के जमीन नहीं थी और जिन्हें जमींदारों ने बेदखल कर दिया था। उन्हें सहारे के लिए न अपनी जमीन थी और न अपना झोंपड़ा। यों जमीन उपजाऊ थी; मगर उस पर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फायदा उठाकर जमींदारों ने, जो कानून के मुताबिक एक हद से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, कानून को ताक पर रखकर भारी-भारी नजराना वगैरह बढ़ा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देखकर रुपया उधार लाते और नजराना वगैरह देते और फिर जब कर्ज और लगान तक न दे पाते तो बेदखल करा दिये जाते। उनका सब-कुछ छिन जाता...।"

इस हालत में किसानों का बगावत पर आमादा होना स्वाभाविक था। इसी साल सर्दियों में सरकार ने उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। उन पर प्रतापगढ़ में मुकदमा चलाया जाने वाला था कि किसानों की एक बहुत बड़ी भीड़ अदालत में जमा हो गई और जेल तक, जिसमें नेताओं को रखा हुआ था, उनकी एक लाइन लग गई। मजिस्ट्रेट ने घबराकर मुकदमा मुल्तवी कर दिया। किसान डटे रहे और दूसरे दिन जब उनके नेताओं को रिहा कर दिया, तब हटे।

यों 1920 के अंत में देश, उस साल के कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपतराय के शब्दों में, क्रांति के मुहाने पर खड़ा था; पर क्रांति नेताओं के "संस्कार तथा परंपरा के प्रतिकूल थी।" अपने उपरोक्त देहात के दौरे के बारे में लिखते-लिखते सच्चाई के क्षण में जवाहरलाल ने इसी बात को यों स्वीकारा है :

"...मुझे ताज्जुब होता था कि मैं अपने आस-पास जमा होने वाले इन हजारों आदमियों में हर बात में, अपनी आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुत भिन्न होते हुए भी, इन लोगों की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो नहीं था कि इन लोगों ने मुझे मेरे मूल स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेंगे तब भी क्या वे मुझे चाहेंगे? क्या मैं लम्बी-लम्बी बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूं?...मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझ पर प्रेम है, मैं जैसा कुछ हूं, उनके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने, जो कुछ सुंदर कल्पना कर ली थी, उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाए? जब उनकी यह कल्पना झूठी निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?"

असहयोग

जब देश इस तेजी से क्रांति की ओर बढ़ रहा था, नेताओं के लिए माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों को स्वीकार करके असेम्बली और कौंसिलों में चले जाना सहज नहीं था। अतएव स्थिति को भांपकर कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सितंबर 1920 में कलकत्ता में बुलाया गया। गांधी ने, जो कल तक सुधारों को स्वीकार करके सरकार को सहयोग देने पर बल दे रहा था, अब इस अधिवेशन में असहयोग आंदोलन चलाने का प्रस्ताव रखा। इस आंदोलन का नेतृत्व कांग्रेस नेता करेंगे और इसका मूल्य यह था कि जनता मार खाते हुए भी शांत रहेगी और आंदोलन को अहिंसात्मक बनाये रखेगी।

अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपतराय ने प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि उन्हें गांधी की अहिंसात्मक असहयोग की योजना पसंद नहीं थी, इसी से उन्होंने कहा था, "देश क्रांति के मुहाने पर खड़ा है, पर क्रांति नेताओं के स्वभाव और संस्कार के प्रतिकूल है।" वह एक लम्बे अर्से तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही में अमरीका से लौटे थे और जवाहरलाल ही के शब्दों में उनका दृष्टिकोण सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अर्से तक विदेशों में रहने से और भी मजबूत हो गया था और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी। (मेरी कहानी)

न सिर्फ लाजपतराय ने बल्कि करीब-करीब सभी पुराने महारथियों ने गांधी के इस असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया। देशबंधु सी.आर.दास इस विरोध के अगुआ थे। विरोध का कारण यह था कि वे कौंसिलों का बायकाट करना नहीं चाहते थे, बल्कि वे और आगे जाने को तैयार थे। जनता जिस हद तक आगे बढ़ चुकी थी, यह प्रस्ताव उसकी रहनुमाई के लिए नाकाफी था।

लेकिन मोतीलाल नेहरू और खिलाफत के नेताओं मुहम्मद अली और शौकत (अली ब्रादर्स) ने गांधी का साथ दिया। युद्ध के बाद अंग्रेजों ने तुर्की के सुल्तान के साथ जो व्यवहार किया था, उससे रूढ़िवादी मुसलमान नाराज थे क्योंकि वे सुल्तान

को अपना खलीफा (धार्मिक नेता) मानते थे। विरोध व्यक्त करने के लिए उन्होंने खिलाफत कमेटी संगठित की थी। गांधी ने असहयोग आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए खिलाफत कमेटी के नेताओं से समझौता किया था। यही समझौता उन दिनों की हिन्दू-मुस्लिम एकता का आधार बना था। बहुत-से पुराने कांग्रेसी नेताओं के विरोध के बावजूद इसी समझौते के कारण गांधी का प्रस्ताव पास हो गया।

प्रस्ताव में घोषणा की गई थी कि जब तक स्वराज्य कायम न हो जाये, गांधी अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन बराबर चलाता रहेगा। आंदोलन का कार्यक्रम यह था कि तमाम सरकारी खिताब त्याग दिये जायें, कौंसिलों, अदालतों और शिक्षा-संस्थाओं का बायकाट किया जाय; विदेशी कपड़े का बायकाट करके खद्दर पहना जाए और घर-घर में चर्खा काता जाए। आंदोलन के अंतिम चरण में सरकार को लगान देना बंद करना भी कार्यक्रम में शामिल था।

जवाहरलाल ने लिखा है : "कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गांधी युग शुरू किया; जो तब से अब तक कायम है। हां, बीच में थोड़ा-सा समय (1922 से 1929 तक) जरूर ऐसा गया, जिसमें गांधीजी ने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य पार्टी को, जिसके नेता देशबंधु दास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई, विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी, कांग्रेस में नई किस्म के प्रतिनिधि दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम वर्ग की निचली श्रेणी के थे...।" (मेरी कहानी)

विदेशी कपड़े के बायकाट से भारतीय उद्योगपतियों के हित का पोषण होता था, इसलिए कार्यक्रम की इस मद को प्रमुख रखा गया। लोगों में उत्साह तो था ही, बड़ी मात्रा में विदेशी कपड़े जलाये गये और चरखा काता जाने लगा। मध्य वर्ग के हजारों नौजवान स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने के लिए कॉलेजों-स्कूलों को छोड़कर मैदान में निकल आये।

नवंबर में जब नई कौंसिलों के चुनाव हुए तो दो-तिहाई लोगों ने अपने वोट नहीं डाले। हालांकि वोट का अधिकार सम्पत्ति के आधार पर समूचे देश की सिर्फ 2.8 प्रतिशत आबादी को प्राप्त था। कुछ चुनाव-केंद्रों पर तो एक भी व्यक्ति वोट डालने नहीं आया।

आंदोलन की इस सफलता से कांग्रेस का सम्मान बढ़ा। कहने की जरूरत नहीं कि जिन नेताओं ने कलकत्ता अधिवेशन में गांधी के प्रस्ताव का विरोध किया था, उन्होंने भी आंदोलन का साथ दिया। जिन कुछेक नामी वकीलों ने अदालतों का बायकाट किया, उनमें मोतीलाल के अलावा सी.आर.दास और लाजपतराय भी थे।

तीन महीने बाद कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ। उसमें "वैधानिक तथा शांतिपूर्वक उपायों से स्वराज्य प्राप्त करने" का प्रस्ताव सर्वसम्मति

से पास हो गया। सर्वसम्मति ही से आंदोलन के नेतृत्व की बागडोर गांधी को सौंप दी गई और उन्होंने वायदा किया कि वह स्वराज्य बारह महीने के भीतर-भीतर अर्थात् 31 दिसंबर, 1921 तक अवश्य प्राप्त कर लेंगे। बाद में सितंबर 1921 के एक सम्मेलन में यहां तक घोषणा कर डाली कि "मुझे साल के अंत तक स्वराज्य प्राप्त कर लेने का इतना विश्वास है कि अगर स्वराज्य न मिला तो आप लोग मुझे 31 दिसंवर के बाद जिंदा नहीं पायेंगे।"

यह और बात है कि गांधी अपनी इस बात पर कायम रहा या न रहा; लेकिन लोग इतनी जल्दी स्वराज्य पा जाने की उम्मीद से बहुत वड़ी तादाद में आंदोलन में खिंच आये। कांग्रेस और खिलाफत उनके लिए दो प्रिय शब्द बन गये। स्वयंसेवक दल संगठित होने लगा, जलसे-जलूसों की बाढ़-सी उमड़ आई और वातावरण "भारत माता की जय", "वंदे मातरम्" तथा "अल्लाह हू अकबर" के नारों से गूंज उठा। विचार और ध्येय चूंकि स्पष्ट नहीं था; इसलिए समूचा आंदोलन राजनैतिक से कहीं अधिक धार्मिक जान पड़ता था।

व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जवाहरलाल ने लिखा है :

"राजनीति में, क्या हिंदू और क्या मुसलमान दोनों तरफ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसंद न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो कुछ अपने भाषणों में कहते उसका अधिकांश मुझे बहुत बुराई पैदा करने वाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र मुझे गलत दिखाई देता था और हर चीज को जो मजहबी झुकाव दिया जाता था, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों में खटकते थे। जैसे "राम राज्य", जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दखल देने की शक्ति न थी और मैं इसी ख़याल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब लोग जानते हैं और जनता उन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुंच जाने की विलक्षण स्वभावसिद्ध कला है।" (मेरी कहानी)

हम देखेंगे कि जवाहरलाल में दखल देने की शक्ति आगे भी कभी पैदा नहीं हुई। गांधी के विचारों और नीतियों को नापसंद करते हुए भी वह हमेशा मानते और अपने मन को किसी-न-किसी ख़याल से तसल्ली देते रहे।

ब्रिटिश सरकार का भी यही ख़याल था कि भारत की जनता अंधविश्वासी है। वह जिस तरह संतों, महात्माओं और अवतारों की पूजा करती है, उसी तरह राजपुरुषों के प्रति भक्ति भी उसे घुट्टी में मिली है। इसलिए वह युवराज अर्थात् प्रिंस ऑफ वेल्ज को भारत के दौरे पर लाई। पर उसकी यह धारणा मिथ्या सिद्ध हुई। ज्यों ही 17 नवंबर, 1921 को युवराज हिन्दुस्तान पहुंचा, सारे देश में मुकम्मल हड़ताल हुई। विदेशी सरकार के प्रति अपने असंतोष का इतना बड़ा सफल प्रदर्शन हिन्दुस्तान में

पहली बार हुआ था। इसके बाद युवराज जहां भी गया, वहां-वहां हड़तालों और सूनी सड़कों ने उसका स्वागत किया। सरकार की प्रतिष्ठा को जबर्दस्त धक्का लगा। उसने झल्लाकर दमनचक्र तेज कर दिया। लोग भी क्रोध से विफर गये। जनता और सरकार में खूनी टक्कर शुरू हो गई जिसे रोकने में गांधी असमर्थ रहा। कहना पड़ा कि स्वराज तो मेरी नाक में जलन पैदा करने लगा है।

दिसंबर में जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ तब तक बीस हजार आदमी जेल में जा चुके थे। सरकार ने स्वयंसेवक दल को अवैध घोषित कर दिया था। फिर भी नौजवान विद्यार्थी और मजदूर हजारों की तादाद में उसमें भर्ती हो रहे थे।

1921 संघर्ष का साल था। न सिर्फ यह कि असहयोग आंदोलन देश-भर में बढ़ता-फैलता चला गया बल्कि उसने जनसंघर्ष के विभिन्न रूप धारण कर लिये। असम-बंगाल रेलवे मजदूरों ने जबर्दस्त हड़ताल की, अवध का किसान आंदोलन जोर पकड़ गया और उन्होंने कहीं-कहीं जमींदारों को लूटना शुरू कर दिया। मिदनापुर में लगानबंदी आंदोलन शुरू हुआ, मालाबार के लड़ाकू मोपलों ने बगावत कर दी और पंजाब में अकालियों ने गुरुद्वारा के महंतों के विशेष अधिकार समाप्त करने का आंदोलन चलाया।

अहमदाबाद का कांग्रेस अधिवेशन क्रांति के इस बढ़ते हुए उभार में हुआ। गांधी के सिवा कांग्रेस के और सब बड़े नेता जेल जा चुके थे। सी.आर.दास को इस अधिवेशन की अध्यक्षता करनी थी, वह भी जेल में थे। गांधी उनके स्थान पर एक अंग्रेज पादरी को पकड़ लाया, जिसने शांति और अहिंसा का धार्मिक उपदेश दिया।

एक प्रस्ताव द्वारा गांधी को पूर्ण अधिकार देकर आंदोलन का डिक्टेटर बना दिया गया और कहा गया कि जब तक स्वराज प्राप्त न हो जाय आंदोलन को दृढ़ निश्चय के साथ जारी रखा जाय। 17 साल की उम्र के प्रत्येक नागरिक से अपील की गई कि वह अवैध राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल का सदस्य बने।

प्रसिद्ध रिपब्लिकन नेता हसरत मोहानी भी इस अधिवेशन में उपस्थित थे। निर्भीक राजनीतिक नेता होने के अलावा वह उर्दू के मशहूर शायर भी थे। रूस की अक्टूबर क्रांति से प्रभावित होकर उन्होंने लिखा था :

गांधी की तरह बैठ के क्यों कातेंगे चर्खा,
लेनिन की तरह देंगे न दुनिया को हिला हम।

उनके कारण एक दिलचस्प घटना घटी। उन्होंने एक प्रस्ताव रखा कि 'स्वराज' शब्द की व्याख्या "मुकम्मल आजादी—विदेशी साम्राज्य के समस्त नियंत्रण से मुक्ति" कर दिया जाय। गांधी बड़े तिलमिलाये और विरोध करते हुए बोले, "यह बड़ी गैर जिम्मेदारी की बात है, इससे मेरी आत्मा को बड़ा दुःख पहुंचा है।" गांधी की आत्मा को दुःख कैसे पहुंचाया जा सकता था? प्रस्ताव रद्द हो गया।

सुभाष बोस उस समय नौजवान थे। आंदोलन में नये-नये आये थे। 1921 में गांधी से उन्होंने पहली मुलाकात की, जिसमें उन्होंने 'स्वराज' शब्द और उसे प्राप्त करने की योजना की व्याख्या चाही। पर गांधी ने, जो कुछ कहा, उससे उन्हें सख्त निराशा हुई। बाद में अपनी इस भेंट का जिक्र करते हुए अपनी 'भारतीय संघर्ष' पुस्तक में लिखा है :

"उनका वास्तविक आशय क्या था! मैं समझ नहीं पाया। या तो वह अपने सारे भेद समय से पहले बताना नहीं चाहते थे या उन दावपेचों के बारे में वे खुद स्पष्ट नहीं थे, जिनके द्वारा सरकार को मजबूर किया जा सकता था।"

जवाहरलाल नेहरू ने इसी बात को जरा उलझाकर, जैसाकि उनकी आदत थी, यों बयान किया है :

"...हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा ही उसका मतलब निकला करता था। ज्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आजादी या ऐसी ही कोई चीज और लोकतंत्रीय ढंग की शासन प्रणाली और यही बातें हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत-से लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाजिमी तौर पर मजदूरों और किसानों के बोझ, जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं, हल्के हो जायेंगे। मगर यह जाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओं के दिमाग में स्वराज का मतलब आजादी से बहुत छोटी चीज थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ विचार कर लेने वालों को वह बढ़ावा नहीं देते थे। मगर हां, हमेशा अस्पष्टता से ही, किंतु निश्चित रूप से, पददलित लोगों को लक्ष्य करके वह बोला करते थे और इससे हम कइयों की बड़ी तसल्ली हो जाती थी..."

अहमदाबाद में गांधी को डिक्टेटर बना दिया था। आंदोलन की रूप-रेखा क्या होगी, वह इसे कैसे और कब चलायें—ये सब उन्हीं पर छोड़ दिया गया। लोग बड़ी उत्सुकता से उनकी ओर देख रहे थे, पर उन्होंने एक महीना तक कुछ नहीं किया। किसानों की मंदी के मारे बुरी हालत थी। उपनिवेशों में साम्राज्यवाद और सामंतवाद का दुहरा शोषण और दमन उन्हीं को सहना पड़ता है, इसलिए क्रांति की सबसे बड़ी शक्ति भी वही हैं। इसलिए लोग लगानबंदी आंदोलन शुरू करने की आज्ञा लेने उनके पास आने लगे। गुंटूर जिला के किसानों ने उनकी आज्ञा के बिना ही लगान देना बंद भी कर दिया। गांधी ने तुरंत कांग्रेस अधिकारियों को आदेश भेजा कि तमाम लगान अदा कर दिया जाये।

गांधी ने लगानबंदी आंदोलन की एक सीमित योजना बनाई, जिसके लिए बारदोली के छोटे-से जिले को चुना। यहां वह आंदोलन को अपने नियंत्रण में रखकर विशुद्ध अहिंसात्मक ढंग से चलाना चाहते थे और पहली फरवरी 1922 के दिन वायसराय को इसकी सूचना भेज दी गई क्योंकि सत्याग्रही शत्रु से भी अपना कार्यक्रम

छिपाता नहीं।

लेकिन चंद ही दिन बाद गोरखपुर जिला के चौरी-चौरा गांव में क्रुद्ध किसानों की भीड़ ने पुलिस चौकी को आग लगा दी जिसमें पुलिस के 22 कर्मचारी जिंदा जला दिए गए थे।

गांधी उस समय बारदोली में था। ज्यों ही उसे इस घटना की खबर मिली, उसने तुरंत 12 फरवरी को कार्यकारिणी की बैठक बुलाई और विद्रोही किसानों के इस क्रांतिकारी अमल को 'अमानुषिक व्यवहार' कहकर असहयोग आंदोलन वापस ले लिया।

स्वाधीनता-संग्राम और क्रांतिकारी देशभक्त जनता के साथ गांधी का यह कितना बड़ा विश्वासघात था, इसका अंदाजा उस समय की देश की राजनैतिक स्थिति को समझकर सहज में लगाया जा सकता है। बारदोली के इस निर्णय के तीन दिन पहले अर्थात् 9 फरवरी को वायसराय ने भारत-मंत्री को लंदन में यह तार भेजा था :

"कस्बों के निम्न वर्गों पर असहयोग आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा है...कुछ क्षेत्रों में—विशेषकर असम, संयुक्त-प्रांत, बिहार, उड़ीसा और बंगाल में किसान लड़ने पर आमादा हो गये हैं। जहां तक पंजाब का संबंध है अकाली आंदोलन...देहाती सिखों तक जा पहुंचा है। देश-भर की अधिकांश मुस्लिम आबादी क्रुद्ध और उद्दंड है...स्थिति गंभीर है...हिन्दुस्तान की सरकार एक भयंकर अव्यवस्था के लिए तैयार है, जिसका सामना उसे अतीत में कभी नहीं करना पड़ा और हम इस तथ्य को भी छिपाना नहीं चाहते कि इस स्थिति ने बड़ी भारी चिंता पैदा कर दी है।"

(रजनी पामदत्त—आज का भारत)

अब उस प्रस्ताव की, जो गांधी ने बारदोली की बैठक में पास करवाया, सात धाराओं में से सिर्फ चार देखिए, उनसे भी देश की राजनैतिक स्थिति और आंदोलन बंद करने का मंशा स्पष्ट हो जाता है।

धारा—2—जब भी सविनय भंग आंदोलन शुरू किया जाता है हिंसात्मक घटनाएं होने लगती हैं। इससे सिद्ध होता है कि देश अभी काफी अहिंसात्मक नहीं है। इसलिए कांग्रेस-कार्यकारिणी सविनय भंग आंदोलन बंद करने का फैसला करती है और स्थानीय कांग्रेस कमेटियों को हिदायत करती है कि वे किसानों को यह मशविरा दें कि उनके जिम्मे सरकार का जो लगान और दूसरे कर बाकी हैं वे सब अदा कर दें, और आक्रामक ढंग की सारी कार्रवाइयां बंद कर दी जायें।

धारा 3—जन आंदोलन तब तक स्थगित रहेगा जब तक कि वातावरण के अहिंसात्मक होने का यकीन न हो जाय कि ऐसे घोर कर्म जैसा गोरखपुर में हुआ, अथवा ऐसे उपद्रव जैसे 17 नवंबर और 13 जनवरी को बंबई और मद्रास में हुए, फिर न होने पायें।

धारा 6—कार्यकारिणी कांग्रेस वर्करों और संस्थाओं को इस बात से अवगत

कराने का मशविरा देती है कि जमींदारों को लगान अदा न करना कांग्रेस प्रस्ताव के विपरीत है और देश के हितों के लिए हानिकर है।

धारा 7—कार्यकारिणी जमींदारों को विश्वास दिलाती है कि उसके कानूनी अधिकारों पर प्रहार करना कांग्रेस आंदोलन का कतई उद्देश्य नहीं है बल्कि कमेटी की ख्वाहिश यह है कि अगर रियासतों को कोई शिकायत हो तो उसे आपस की बात-चीत तथा मध्यस्थता द्वारा तय कर दिया जाय।

जो माडरेट पहली गोलमेज में शामिल होने लंदन गये थे, उनके आचरण की आलोचना करते हुए जवाहरलाल ने लिखा है :

"यह बात हमें पहले से भी ज्यादा साफ नजर आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे थे और किस तरह स्थापित स्वार्थ उस राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे थे।" (मेरी कहानी)

क्या गांधी का यह वारदोली फैसला भी सत्य और अहिंसा की धोखे की टट्टी नहीं था, जिसका उद्देश्य जमींदारों के निहित स्वार्थों और खुद विदेशी सरकार के स्थापित स्वार्थों की रक्षा करना नहीं था? क्या इससे यह भी सिद्ध नहीं हो जाता कि जनता तो क्रांति के लिए उठ खड़ी हुई थी, पर निहित स्वार्थों की रक्षा करने वाले कांग्रेसी नेता देश की क्रांतिकारी शक्तियों से विदेशी साम्राज्यवाद से भी ज्यादा संत्रस्त थे?

हम देखेंगे कि जवाहरलाल ने गांधी के इस फैसले के प्रति विक्षोभ और विरोध व्यक्त किया है, पर वास्तव में इसका समर्थन किया है और समर्थन का ढंग यह अपनाया है कि जो गाली गांधी को दी जा सकती है, वह पहले ही उन लोगों को दे लो, जो खुले रूप में अंग्रेज के तरफदार बने हुए थे, जो माडरेट अथवा लिबरल कहलाते हैं।

गांधी और जवाहरलाल

गांधी ने जब असहयोग आंदोलन स्थगित करने की घोषणा की मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, सी.आर.दास, मुहम्मद अली, शौकत अली—कांग्रेस और खिलाफत के सभी बड़े नेता जेलों में बंद थे। उन्हें इस घोषणा से बड़ा आघात पहुंचा। सुभाष के कथनानुसार सी.आर.दास क्रोध से तिलमिला उठे। जवाहरलाल ने अपने साथ के लोगों की प्रतिक्रिया को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त में जबकि हम अपनी स्थिति मजबूत करते जा रहे थे, हमारी लड़ाई बंद कर दी गई है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर हम जेल वालों की मायूसी और नाराजगी से हो ही क्या सकता था? सत्याग्रह बंद हो गया और इसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा...।" (मेरी कहानी)

लखनऊ जेल में बंद इन लोगों ने अपने मुलाकातियों के हाथ गांधी को एक पत्र भिजवाया, जिसमें उन्होंने अपना दुःख, विक्षोभ और विरोध व्यक्त किया था। विजय लक्ष्मी एक मुलाकात में उसका उत्तर लाईं, जो गांधी ने 19 फरवरी, 1922 को बारदोली ही से जवाहरलाल के नाम लिखा था। खत यों शुरू होता है :

"प्रिय जवाहरलाल,

मुझे मालूम हुआ है कि तुम सबको कार्य-समिति के प्रस्तावों पर भयंकर पीड़ा हुई है। मुझे तुमसे हमदर्दी है और पिताजी की बात सोचकर मेरा दिल टूटता है। उन्हें जो पीड़ा हुई होगी, उसकी मैं अपने मन में कल्पना कर सकता हूं। परंतु यह भी होता है कि यह पत्र अनावश्यक है, क्योंकि मैं जानता हूं कि पहले आघात के बाद स्थिति सही तौर पर समझ में आ गई होगी। बेचारे देवदास की बचपन भरी नासमझियों का हमारे दिमाग पर बहुत बोझा नहीं होना चाहिए। बिलकुल संभव है कि उस गरीब लड़के के पैर उखड़ गये हों और उसका मानसिक संतुलन जाता रहा हो; परंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि असहयोग आंदोलन से सहानुभूति रखने वाली गुस्से से पागल भीड़ ने पुलिस के सिपाहियों की वहशियाना ढंग से हत्या की। इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता कि यह भीड़ राजनैतिक चेतना रखने

वाली भीड़ थी। ऐसी साफ चेतावनी पर ध्यान न देना बड़ा अपराध होता।"

फिर क्रांतिकारी उभार का, बंबई तथा मद्रास की घटनाओं का विवरण देते हुए आगे लिखा है—"ये सब खबरें और दक्षिण से इससे भी ज्यादा खबरें मेरे पास थीं, तब चौरी-चौरा के समाचारों ने बारूद में जबर्दस्त चिनगारी का काम किया और आग लग गई। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि अगर यह चीज मुल्तवी न कर दी जाती, तो हम एक अहिंसक आंदोलन के बजाय असल में हिंसक संग्राम को चलाते।" जाहिर है कि गांधी को सशस्त्र क्रांति के हिंसक संग्राम में कोई दिलचस्पी नहीं थी, वह तो नेता ही इसलिए बना था कि लोगों को इस रास्ते पर चलने से रोका जाय। लेकिन सवाल यह है कि रंगरूट भर्ती कराना, चाहे इसी आशा में कि इससे स्वराज्य मिलेगा, क्या साम्राज्यवादी हिंसक युद्ध को बढ़ावा देना नहीं था? और अगर देश में सशस्त्र क्रांतिकारी युद्ध नहीं लड़ना था तो नौजवानों को फौजी शिक्षा दिलाने का अर्थ क्या था?

अब देखिए पत्र के अंत में जवाहरलाल को किन शब्दों में दिलासा दिया गया है और भावुकतापूर्ण ढंग से बात टाली गई है :

"जो हो जेल के वातावरण के कारण तुम्हारे मन में सारी बातें नहीं आ सकतीं। इसलिए मैं चाहूंगा कि तुम बाहर की दुनिया को अपने खयाल से ही निकाल दो और समझ लो कि वह है ही नहीं। मैं जानता हूं कि यह काम बहुत ही कठिन है; परंतु यदि कोई गंभीर अध्ययन शुरू कर दो और कोई शरीर-श्रम का कार्य हाथ में ले लो तो यह काम हो सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि तुम चाहे कुछ भी करो, मगर चर्खे से न उकताओ। तुम्हारे और मेरे पास बहुत-सी बातें करने और बहुत-सी मान्यताएं रखने पर अपने-आप से अरुचि होने के कारण हो सकते हैं, मगर इस बात पर अफ़सोस करने का कभी कारण नहीं मिलेगा कि हमने चर्खे पर श्रद्धा केंद्रित कर ली या मातृ-भूमि के नाम पर हमने रोज इतना अच्छा सूत क्यों काता? तुम्हारे पास 'सांग मिलेशियल' है। मैं एडविन आर्नल्ड जैसा बेमिसाल अनुवाद तो नहीं दे सकता, मगर मूल संस्कृत का उल्था यों है, "शक्ति बेकार नहीं जाती, नष्ट तो होती ही नहीं। धर्म के थोड़े-से अंश से मनुष्य कई बार गिरने से बच जाता है।" इस धर्म का आशय कर्म-योग से है और हमारे युग का कर्म-योग चर्खा है। प्यारेलाल की मार्फत तुमने मुझे खून सुखाने वाली खुराक पिलाई है, उसके बाद तुम्हारा उत्साहवर्धक पत्र आना चाहिए।"

अब देखिए कि जवाहरलाल पर इस खत का क्या असर होता है और वह अहिंसा तथा चर्खे के इस दर्शन से, जो हमारे युग का 'कर्म-योग' है, कैसे धीरे-धीरे अपनी पट्टी बिठाते हैं। 'मेरी कहानी' के 'अहिंसा और तलवार का न्याय' नाम के परिच्छेद में वह लिखते हैं :

"असल बात तो यह है कि फरवरी 1922 में सत्याग्रह को स्थगित किया जाना महज चौरी-चौरा की वजह से नहीं हुआ, हालांकि ज्यादातर लोग यही समझते थे।

वह तो असल में एक आखिरी निमित्त हो गया था। ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नजदीक रहकर एक नई चेतना पैदा कर ली थी, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती और वह अक्सर अपनी अंतःप्रेरणा या सहज बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं जैसा कि महान लोकप्रिय नेता अक्सर किया करते हैं। वह इस सहज प्रेरणा को सुनते हैं और उसी के अनुकूल रूप अपने कार्य को देते हैं। और उसके बाद अपने चकित और नाराज साथियों के लिए अपने फैसले को कारण का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफी होता है, जैसा कि चौरी-चौरा के बाद मालूम होता था।" अब इस कारण के जामे को कम-से-कम अपने लिए काफी बनाने के लिए जवाहरलाल तर्क को यों आगे बढ़ाते हैं, "उस वक्त हमारा आंदोलन बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देने वाले और लम्बे-चौड़े जोश के अंदर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था...

गांधीजी के दिमाग में जिन असरों और वजहों ने काम किया वे संभवतः यही थे, उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वांछनीय था, इस बात को मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फैसला सही था। उनको ये सब खराबियां रोककर नए सिरे से रचना करनी थी।"

पर फैसले को सही मान लेने के बावजूद जवाहरलाल की अपनी तसल्ली नहीं होती। वकील थे, इसलिए जानते थे कि विरोधी पक्ष का वकील इससे उलट तर्क भी प्रस्तुत कर सकता है। अतएव खुद ही अपनी बात का खण्डन करते हुए तुरंत लिखते हैं :

"एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टिकोण का अहिंसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दायें-बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आंदोलन को उस अवस्था में और इस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकांडों द्वारा कुचल डालने का निमंत्रण देने से भी राष्ट्रीय आंदोलन खत्म नहीं हो सकता था, क्योंकि ऐसे आंदोलनों का यह तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़ी अल्पकालिक हार से भी समस्याओं को भली-भांति समझने और लोगों को पक्का तथा मजबूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नहीं है बल्कि सिद्धांत और आदर्श है।" एक ही पैरे में बात को फिर पलटते हैं, "लेकिन 1921 और 1922 में हमारे सिद्धांत और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुंधला स्वराज्य, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी और अहिंसात्मक लड़ाई की एक खास पद्धति। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछली बात यानी अहिंसा

का तरीका खत्म हो जाता और जहां तक पहली बात यानी स्वराज से ताल्लुक है, उसमें कोई ऐसी बात न थी, जिसके लिए लोग लड़ते। आमतौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि वे ज्यादा अर्से तक लड़ाई चलाये जाते और विदेशी शासन के खिलाफ करीब-करीब सर्वव्यापी असंतोष और कांग्रेस के साथ लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफी बल या संगठन न था।"

जवाहरलाल ने यह ठीक लिखा है कि "आप एक साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते।" लेकिन इस सारी बहस से यह ज़रा भी स्पष्ट नहीं, या गांधी के स्वराज की व्याख्या की तरह जान-बूझकर स्पष्ट नहीं होने दिया कि वह खुद दायें या बायें किस रास्ते पर चल रहे हैं? वह गांधी के अहिंसा और हृदय-परिवर्तन के सिद्धांतों को दुरुस्त मानते हैं या नहीं? वह यह बताने का साहस नहीं करते कि चौरी-चौरा के बाद आंदोलन को बंद कर देना सही था या गलत! तर्क इधर भी और उधर भी दोनों तरफ समान गति से चलता है। बाद में भी वह हमेशा बात को उलझाने की इस शैली को अपनाये रखते हैं, जिसका प्रयोजन अपने और गांधी के क्रांति-विरोधी वर्ग चरित्र पर पर्दा डाले रखने के सिवा और कुछ नहीं है। देखिए इससे पंद्रह साल बाद पूना में गांधी से अपनी एक भेंट का जिक्र करते हुए लिखा है :

"मुझे खुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को हटा देना चाहिए, हालांकि उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। चूंकि मेरे खयाल से उनके हृदय-परिवर्तन के कुछ तरीके नम्रता और विचारपूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न हैं, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक्त पहले ही की तरह, मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोल-मोल सिद्धांतों पर विचार नहीं करते तो भी घटनाओं के तर्कपूर्ण परिणामों को देखकर धीरे-धीरे करके, वह आमूल सामाजिक परिवर्तनों की अनिवार्यता मान लेंगे। वह एक विचित्र व्यक्ति हैं। श्री बेरियर एलविन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी हैं'—लेकिन साथ ही वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और हिन्दुस्तान के किसानों की नब्ज हमेशा उनके हाथ में रहती है। संकटकाल में वह किस दिशा में मुड़ जायेंगे यह कहना मुश्किल है, लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबर्दस्त होगा। संभव है कि हमारे खयाल से वह गलत रास्ते जावें; लेकिन हमेशा वह रास्ता सीधा ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था; लेकिन अगर आवश्यकता हो तो अलग-अलग रास्ते से भी जाना पड़ेगा।"

"लेकिन" की करामात मुलाहिजा फरमाइए। गांधी मध्यकालीन कैथलिक साधु भी हैं, व्यावहारिक नेता भी हैं, दिशा चाहे कुछ भी हो, उसका परिणाम जबर्दस्त होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही है, आवश्यकता पड़ने पर अलग-अलग रास्तों से भी जाया जा सकता है।

सवाल यह पैदा होता है कि क्या जवाहरलाल ने कभी इसकी आवश्यकता महसूस की? बातों को जाने दीजिए क्या अमल में उन्होंने कभी भी गांधी से अलग रास्ता अपनाया?

1921 में फैजाबाद जिले में दूर-दूर तक दमन हुआ। कारण यह कि देहात के किसानों ने "गांधीजी की जय" का नारा लगाते हुए एक ताल्लुकेदार का माल-असबाब लूट लिया था। यह घटना बयान करते हुए जवाहरलाल नेहरू 'मेरी कहानी' में लिखते हैं :

"जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन के अंदर उस स्थान पर जा पहुंचा, जो अकबरपुर (फैजाबाद जिला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घण्टों में पांच-छः हजार लोग कई गांवों से, कोई दस-दस मील की दूरी से वहां इकट्ठे हो गए। मैंने उन्हें आड़े हाथों लिया और बताया कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुंचाया और शर्मिंदगी दिलायी और कहा कि जिन-जिन ने लूटमार की है, वे सबके सामने अपना गुनाह कबूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की भावना से जैसा कुछ मैं उसे समझता था भरा हुआ था!) मैंने उन लोगों से जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊंचा उठाने के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस अफसरों के सामने कई दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके माने थे यकीनन उन पर आफत आना।"

जवाहरलाल खुद महसूस करते जान पड़ते हैं कि उनका यह काम ताल्लुकेदारों और विदेशी साम्राज्य के स्थापित स्वार्थों की रक्षा तथा निरीह किसानों और क्रांति के प्रति विश्वासघात था, इसीलिए कोष्ठकों में लिखते हैं कि 'मैं उन दिनों गांधीजी के सत्याग्रह की भावना से भरा हुआ था।' लेकिन सात साल बाद अर्थात 1928 में जब लखनऊ के एक कांग्रेस जलूस में उनके शरीर पर पहली बार पुलिस की लाठियां पड़ीं, तब?

"इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ विस्तार से लिखा है क्योंकि इसका मुझ पर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ, वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बर्दाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक मजबूत हूं। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था, तब भी मेरा दिमाग ठीक-ठीक काम करता रहा और मैं अपने अंदर की भावनाओं का ज्ञान-पूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तहान होने वाला था क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन कमीशन आने वाला था और उस समय हम विरोधी प्रदर्शन करने वाले थे।"

दूसरे दिन की मार और भी सख्त थी। लिखा है, "मार से मुझे अंधेरी आ

गई और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और पलटकर मारने का खयाल भी आया।... मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नहीं उठाया।"

मतलब यह है कि जवाहरलाल ने गांधी से अलग रास्ता कभी नहीं अपनाया बल्कि अपने को अहिंसा और हृदय-परिवर्तन की शिक्षा के अनुरूप ढाला, खुद लाठियां खाकर समूची क्रांतिकारी जनता को हर हालत में शांत रहकर शत्रु की गोलियों का शिकार बनने की शिक्षा दी। फिर सिर झुकाकर पिटते रहने को भारत की परंपरा सिद्ध करने के लिए अहिंसा और हृदय-परिवर्तन के डांडे गौतम बुद्ध की इस शिक्षा में जा मिलाये "इस दुनिया में नफरत का अंत नफरत से नहीं हो सकता, नफरत प्रेम करने ही से जायेगी।" और "आदमी को चाहिए गुस्से को दया के जरिये और बुराई को भलाई के जरिये जीते।"

इसके भी आठ साल बाद की परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' के 'हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग' शीर्षक परिच्छेद में लिखा है :

"उनका (गांधीजी का) तरीका तो खुद कष्ट-सहन का है। इसको समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम न तो इसे नाप-जोख ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीके ही से उसकी जांच कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधी पर इस तरीके का काफी असर पड़ता है। यह तरीका विरोधियों की नैतिक दलीलों का पर्दाफाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जाग्रत कर देता है, और समझौते का दरवाजा खोल देता है..."

फरवरी 1922 में तो गांधीजी ने चौरा-चौरी की घटना के कारण सत्याग्रह बंद किया था। लेकिन दस साल बाद फरवरी 1932 में जब आंदोलन अपने पूरे जोबन पर था, अहिंसा के तरीके ने विरोधी पर अपना असर दिखाया। अंग्रेज साम्राज्य का प्रतिनिधि वायसराय लार्ड इर्विन महात्माजी की आध्यात्मिक शक्ति से घबराया और समझौते का दरवाजा 'खुल जा सिम-सिम' का मंत्र पढ़ने की तरह यकायक खुल गया। गांधी इस दरवाजे से नई दिल्ली के वायसराय हाऊस में दाखिल हुआ और अपनी ग्यारह शर्तों में से एक भी शर्त मनवाये बिना ही समझौता कर आया। जवाहरलाल जैसे पहले सत्याग्रह बंद कर देने से व्यथित हुए थे, अब वैसे ही इस 4 मार्च के समझौते से उनका व्यथित होना स्वाभाविक था। लेकिन :

"गांधीजी ने किसी से मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बातचीत की, जिसमें उन्होंने मुझे विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यंत महत्त्व की बात छोड़ दी गई है और न कोई सिद्धांत ही त्यागा गया है। उन्होंने धारा नंबर 2 का एक विशेष अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतंत्रता की मांग से मेल खा

सके। इसमें उनका आधार खास कर 'भारत के हित में' शब्द थे। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका कायल तो नहीं हुआ, लेकिन उनकी बातचीत से मुझे कुछ सांत्वना जरूर हुई। मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ रख दें, तो भी एकाएक कोई नई बात खड़ी कर देने के आपके तरीके से मैं डरता हूं। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है, जिसे चौदह साल के निकट संपर्क के बाद भी मैं बिलकुल नहीं समझ सका हूं और इसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अंदर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया; मगर कहा कि मैं खुद भी इसके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता, न यही पहले से बता सकता हूं कि वह मुझे कहां और किस ओर ले जायेगा।'' (मेरी कहानी)

यह 'अज्ञात तत्त्व' जिससे जवाहरलाल भयभीत और संत्रस्त हैं और जिसके बारे में गांधी खुद नहीं बता सकता कि वह उसे कहां और किस ओर ले जायेगा, नीत्शे का अति मानववाद है और हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को समझ-सोचकर सुधारवादी मार्ग पर चलाने वाली थियोसॉफिस्ट मिसेज एनी बेसेण्ट का ब्रह्मवाद भी है। दोनों से जवाहरलाल का पुराना परिचय है और उन्होंने गांधी में 'अज्ञात तत्त्व' एक बार नहीं अनेक बार देखा। लिखा है :

''भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बड़े तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने घोर तप और त्याग के द्वारा भारी पुण्य संचय करके छोटे-छोटे देवताओं की सत्ता हिला दी तथा प्रचलित व्यवस्था उलट-पलट दी। जब कभी मैंने गांधीजी के अक्षय आध्यात्मिक भंडार से बहने वाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आंतरिक बल को देखा तो मुझे अक्सर ये कथाएं याद आ जाया करती हैं। वह स्पष्टतः दुनिया के साधारण मनुष्य नहीं हैं। वह तो विरले और कुछ और तरह के सांचे में ढाले गये हैं और अनेक अवसरों पर हमें उस अज्ञात के दर्शन होते थे।'' (मेरी कहानी)

अब ऐसी अज्ञात शक्ति के आगे तर्क कैसे चल सकता है? वह जो भी फैसला कर ले और जो भी कदम उठा ले, ठीक है। अतएव जब दिल्ली समझौता टाएं-टाएं-फिश हो जाने के बाद दोबारा सत्याग्रह शुरू हुआ और गांधीजी ने उसे उपवास के बल पर स्थगित किया तब जवाहरलाल ने लिखा :

''अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजा :

'आपका पत्र मिला, जिन मामलों को मैं नहीं समझता, उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूं? मैं तो एक विचित्र देश में अपने को खोया हुआ-सा अनुभव करता हूं जहां आप ही एकमात्र दीप-स्तंभ हैं। अंधेरे में मैं अपना रास्ता टटोलता हूं, लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूं। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार आपके साथ होंगे।'

उनका उपवास सकुशल पूरा हुआ। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिए गए, और उनके कहने से छः हफ्ते के लिए सविनय भंग स्थगित कर दिया गया।" (मेरी कहानी)

गांधी और जवाहरलाल, भेस चाहे अलग-अलग भर रखे थे, दोनों समझ-सोचकर एक ही मार्ग और एक ही नीति पर चल रहे थे। वे दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। गांधी ने अगर हमारी पिछड़ी हुई जनता के अंधविश्वास का सहारा लेकर रामराज्य के सपने दिखाये तो जवाहरलाल ने इतिहास लिखकर उन सपनों में रंग भरा और रामराज्य की सीमाएं निर्धारित कीं, जो पश्चिम में मध्य एशिया तक और पूर्व-दक्षिण में हिंद चीन तथा जावा और सुमात्रा तक फैली हुई थीं। डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में ठीक ही लिखा है :

"बहुत-सी बातों में गांधीजी से मतभेद होने पर भी जवाहरलालजी उनके नेतृत्व के महत्त्व को जानते और मानते थे, उसे किसी तरह कमजोर करना नहीं चाहते थे। यही कारण था कि मतभेद होते हुए भी हम उनके साथ काम कर सकते थे।"

हम देखेंगे कि गांधी के नेतृत्व को कमजोर करने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता, जवाहरलाल ने हमेशा उसे मजबूत किया। कारण यह कि गांधी की समझौता-नीति से उन्हें कोई मतभेद ही नहीं था, मतभेद अगर होता था तो इस बात में कि समझौते में क्या पाया और क्या नहीं पाया। लिखा है :

"हम लोग बड़ी-बड़ी बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग में हमेशा सौदा करने की तजवीजें चला करती थीं।" (मेरी कहानी)

सत्य, अहिंसा और हृदय-परिवर्तन का दर्शन इस सौदेबाजी और स्थापित स्वार्थों की रक्षा का दर्शन है और इसी से 'अज्ञात तत्त्व' की सृष्टि होती है।

कुछ-न-कुछ

12 फरवरी को सत्याग्रह बंद हुआ। उसके लगभग एक महीना बाद अर्थात् 10 मार्च को सरकार ने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया, मुकदमा चलाया और छः साल की लम्बी सजा दे दी; लेकिन दो साल के भीतर ही रिहा भी कर दिया।

जवाहरलाल 1922 के इस सत्याग्रह में पहली मर्तबा गिरफ्तार हुए थे और उन्हें छः महीने की सजा हुई थी। लेकिन सरकार ने मुकदमे पर पुनः विचार करके तीन माह बाद छोड़ दिया। वह साबरमती ज़ेल में गांधी से मिले और उनके मुकदमे की सुनवाई के समय भी वह अदालत में मौजूद थे। उस समय का दृश्य 'मेरी कहानी' में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

"वह एक हमेशा याद रखने लायक प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक्त वहां मौजूद थे, वे शायद उसे कभी नहीं भूल सकते। जज एक अंग्रेज था। उसने अपने व्यवहार में काफी शराफत और सद्भावना दिखाई। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालने वाला था। हम लोग जब वहां से लौटे तब हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके ज्वलंत वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।"

गांधी के चमत्कारी भावों और विचारों की बानगी देखिए। ब्रिटिश साम्राज्य को अपनी सेवाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा :

"अपनी तमाम सेवाओं में मैं इस विश्वास से प्रेरित हुआ था कि इन सेवाओं द्वारा अपने देशवासियों के लिए पूर्ण समानता का पद प्राप्त करना संभव हो सकेगा।"

(आज का भारत)

इस संबंध में सोचने की एक बात तो यह है कि वे देशवासी कौन थे, जिनके लिए पूर्ण समानता के पद की कामना की गई थी और जब साम्राज्यवादियों ने खुद-ब-खुद यह पद न दिया तो उन पर अहिंसक आंदोलन का और चर्खे का दबाव डाला गया। दूसरी बात यह कि इनसे आंदोलन में जनवरी 1922 तक तीस हजार

आदमी जेल में गये, जिनमें कांग्रेस और खिलाफत के बड़े नेता भी शामिल थे, पर आंदोलन के सूत्रधार गांधीजी को गिरफ्तार नहीं किया गया, उसे पूरी छूट दिए रखी। लेकिन आंदोलन के भयंकर रूप धारण करते ही जब गांधी ने अपने हाथों उसका गला घोंट दिया तो सरकार को उसे यकायक गिरफ्तार करने और इतनी लम्बी सजा देने की जरूरत क्यों महसूस हुई? इस रहस्य को समझना कठिन नहीं है, जरा सोचने की बात है। नेता सजा पाकर ही लोकप्रिय बनते हैं। सरकार ने मिसेज एनी बेसेंट को भी युद्ध के दिनों में अकारण गिरफ्तार करके अकारण नज़रबंद कर दिया था। गांधी को भी अकारण सजा दी।

गांधी के चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप मन पर लेकर जवाहरलाल इलाहाबाद लौटे और उन्हें जेल से बाहर रहना सूना और दुःखप्रद जान पड़ा। सत्याग्रह बंद हो जाने के बावजूद विलायती कपड़े का बहिष्कार अब भी जारी था क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान के बड़े उद्योगपतियों का लाभ था और इस बहिष्कार के क्रांतिकारी रूप धारण करने की कोई आशंका न थी। जवाहरलाल ने इसमें दिलचस्पी लेना शुरू की।

"इलाहाबाद के लगभग सभी व्यापारियों ने यह वादा कर रखा था कि वे विलायती कपड़ा न बाहर से मंगायेंगे और न हिन्दुस्तान ही में किसी से खरीदेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मंडल भी बना रखा था। मंडल के कायदों में यह लिखा हुआ था कि जो कोई वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायेगी। लेकिन कुछ बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना यह वादा तोड़कर विदेशों से कपड़ा मंगाना शुरू कर दिया। जब उन पर कहा-सुनी का कोई असर न हुआ तो जवाहरलाल ने उनकी दुकानों पर धरना देना तय किया। धरने के डर से इन लोगों ने जुर्माना भर दिया और विलायती कपड़ा मंगवाना बंद कर दिया। जुर्माने का रुपया मंडल के पास गया।"

अब विदेशी कपड़े के बहिष्कार में अंग्रेज व्यापारियों की हानि थी। सरकार ने जवाहरलाल और उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया और उन पर लोगों को डरा-धमकाकर रुपया ऐंठने का आरोप लगा। इसके साथ ही राज-द्रोह का भी आरोप था। जवाहरलाल को तीन जुर्मों में एक साल नौ महीने की सजा हुई और उन्हें दोबारा जेल भेज दिया गया।

अगले साल अर्थात् जनवरी 1923 के अंत में सारे राजनैतिक कैदी छोड़ दिए गए। जवाहरलाल जब जेल से घर पहुंचे तो उन्हें सबसे पहले, जो खत मिला, वह इलाहाबाद हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ जस्टिस सर ग्रिमवुड मिर्थस का था। जैसा कि सर ग्रिमवुड ने बाद में खुद बताया, उसे आशा थी कि जवाहरलाल बहुत ऊंचा उठेंगे। इसलिए मेल-मुलाकात बढ़ाकर और अंग्रेज का दृष्टिकोण समझाकर वह जवाहरलाल पर अपनी नेक नीयत का असर डालना चाहता था। मेल-मुलाकात बढ़ी। और मिर्थस ग्रिमवुड ही से नहीं बहुत-से अंग्रेजों से मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू के अच्छे संबंध थे। जवाहरलाल के अपने शब्दों में "शायद नर्म दल वालों तथा अन्य

लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, अंग्रेजों से ज्यादा मेल खाता है।" निस्संदेह इस मेल ने भी ऊंचा उठने में सीढ़ी का काम दिया।

उस साल बहुत-से कांग्रेसी नेता जेलों से बाहर आकर म्युनिस्पैलिटियों के अध्यक्ष बने। देशबंधु चितरंजनदास कलकत्ता के पहले मेयर चुने गये। विट्ठल भाई बंबई कार्पोरेशन के प्रेसिडेण्ट चुने गये और सरदार वल्लभ भाई अहमदाबाद के, इसी प्रकार संयुक्त प्रांत (यू.पी) में, ज्यादातर बड़ी म्युनिस्पैलिटियों के चेयरमैन कांग्रेसी ही बने। अतएव जवाहरलाल भी अपने रिहाई के कुछ हफ्तों बाद ही इलाहाबाद म्युनिस्पैलिटी के अध्यक्ष चुने गये।

इसके अलावा जवाहरलाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री और फिर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भी मंत्री बना दिये गये। लिखा है कि "इन तीनों हैसियतों से, मैं बहुत-से कामों में लग गया और इस तरह मैंने उन मामलों से बचने की कोशिश की, जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे, लेकिन उनसे बचना संभव न था। जो प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठते थे और जिनका कोई संतोषजनक उत्तर मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहां भाग सकता था? इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ इसलिए कि मैं अपने अंतर्द्वंद्व से बचना चाहता था।" (मेरी कहानी)

1921 में असेम्बली और कौंसिलों का बहिष्कार कर दिया गया था। अब जब कांग्रेसी नेता जेलों से रिहा हुए तो कौंसिलों में जाने, न जाने के सवाल पर फिर जोरों से बहस उठी। जो लोग चुनाव लड़कर कौंसिलों और असेम्बली में जाने और भीतर से सरकार के विरुद्ध लड़ने के पक्ष में थे, वे 'परिवर्तनवादी' कहलाये और उनके नेता चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू थे। जो लोग अब भी असेम्बली और कौंसिलों का बहिष्कार वदस्तूर जारी रखने और अपनी समस्त शक्ति अछूतोद्धार तथा चर्खा कातने आदि के रचनात्मक कार्य में लगा देने के पक्ष में थे, 'अपरिवर्तनवादी' कहलाये। उनका नेता गांधी था।

यों कांग्रेस दो गुटों में बंट गई और दोनों गुटों में बड़ा कड़ा संघर्ष चला। लेकिन 1923 के चुनावों में परिवर्तनवादियों को, जिन्होंने स्वराज पार्टी संगठित कर ली थी, आशातीत सफलता मिली और वे असेम्बली तथा कौंसिलों में अपने बहुत-से उम्मीदवार भेजने में सफल हुए।

1924 में स्वराजियों ने सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस पर भी कब्जा कर लिया और कहा जाता था कि आइन्दा पांच-छः साल के लिए गांधी और उनके अपरिवर्तनवादी अनुयायियों का प्रभाव राजनीति में फीका पड़ गया और स्वराजियों का बोल-बाला रहा।

जवाहरलाल कौंसिलों में जाने के पक्ष में तो नहीं थे, लेकिन उन्होंने और कुछ दूसरे लोगों ने इन दोनों गुटों में समझौता कराने की कोशिश की, जिसमें उन्हें सफलता

नहीं मिली।

सी.आर.दास ने जवाहरलाल को स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। लिखा है कि "यद्यपि मुझे दिखाई नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए और उन्होंने अपनी सारी वकालत खर्च कर दी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ।"

इस संघर्ष तथा मतभेद ने बाप-बेटे के आपसी संबंध पर क्या असर डाला, इस सिलसिले में जवाहरलाल का अपना कहना तो यह है कि उन्होंने मुझ पर स्वराजी वन जाने के लिए कभी जोर नहीं डाला और सब-कुछ मेरी मर्जी पर छोड़ दिया। लेकिन उर्दू के मशहूर शायर फिराक गोरखपुरी ने, जो उन दिनों कांग्रेस दफ्तर आनंद भवन में जवाहरलाल के साथ काम करते थे, अपने एक संस्मरण में लिखा है :

"देशबंधु चितरंजनदास, पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय और देशभक्तों का एक बड़ा भाग असहयोग आंदोलन के चार साल बाद यह चाहने लगा कि असेम्बली और कौंसिलों का बायकाट बंद कर दिया जाये और चुनाव लड़ा जाये। महात्मा गांधी टस-से-मस नहीं होते थे। जवाहरलाल नेहरू इस मामले में रहे तो खामोश, पर गांधीजी से खुल्लम-खुल्ला मतभेद का विचार उनके मार्ग में बाधा बन जाता था। बाप-बेटे में अर्थात् मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू में एक मन-मुटाव पैदा हो गया। मुझे क्या खबर थी कि आनंद भवन एक मूक पर अप्रिय तनाव में ग्रस्त हो चुका है। उन्हीं दिनों एक रोज जब जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस महासमिति के दफ्तर में मौजूद नहीं थे, दफ्तर में डाक आई, जो मुझे सौंप दी गई। उसमें एक लिफाफा जवाहरलाल नेहरू के नाम था और पता महात्मा गांधी का लिखा हुआ था। उस समय मुझसे एक अपराध हुआ, जिसे मैं आज प्रकट कर रहा हूं। मुझे कोई अधिकार गांधीजी के जवाहरलाल के नाम इस व्यक्तिगत पत्र को खोलने का न था। मुझसे रहा न गया और अत्यंत सावधानी से मैंने इस खत को खोलकर पढ़ लिया। गांधीजी ने जवाहरलाल को लिखा था कि तुम तकलीफ और परेशानी महसूस कर रहे हो, तो मैं तुम्हें किसी कॉलेज में प्रोफेसरी दिलाने की तुरंत कोशिश कर सकता हूं। मैंने सावधानी से लिफाफा बंद कर दिया और वह दूसरे दिन जवाहरलाल नेहरू को मिल गया। उन्हें या किसी को पता नहीं चलने पाया कि मैं महात्माजी का खत पढ़ चुका हूं। उस समय मुझे मालूम हुआ कि बाप-बेटे में तनाव यहां तक पहुंच गया है। होता यह था कि हर साल एक दिन पंडित मोतीलाल नेहरू लगभग दस हजार रुपये जवाहरलाल के नाम करेंट अकाउंट में बैंक में जमा कर देते थे, ताकि सालभर तक उन्हें अपने निजी खर्च के लिए बाप से कुछ मांगना न पड़े। पर जब उक्त मन-मुटाव पैदा हो गया, तो उस साल मोतीलालजी ने ऐसा नहीं किया था, जिससे यह गंभीर स्थिति उत्पन्न हो गई थी।"

(आजकल : नेहरू-स्मृति अंक)

इन्हीं दिनों का लिखा हुआ गांधीजी का एक खत बाद में जवाहरलाल नेहरू ने अपने द्वारा सम्पादित 'कुछ पुरानी चिट्ठियां' नाम की पुस्तक में प्रकाशित किया है। यह खत 15 सितंबर, 1924 को लिखा गया था। फिराक ने गालिबन यही खत पढ़ा होगा। खत देखिए, इससे गांधी की अपनी मनःस्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है :

"दिल को छूने वाला तुम्हारा निजी पत्र मिला। मैं जानता हूं कि इन सब चीजों का तुम बहादुरी से मुकाबला करोगे। अभी तो पिताजी चिढ़े हुए हैं और मैं बिलकुल नहीं चाहता कि तुम या मैं उनकी झुंझलाहट बढ़ाने का जरा भी मौका दें। संभव हो तो उनसे जी खोलकर बातें कर लो और ऐसा कोई काम न करो, जिससे वह नाराज हों। उन्हें दुखी देखकर मुझे दुःख होता है। उनकी झुंझलाहट उनके दुःख की अचूक निशानी है। हसरत (मौलाना हसरत मोहानी) आज यहां आये थे। उनसे पता चला कि कांग्रेसी के कातने संबंधी मेरे प्रस्ताव से भी उन्हें अशांति होती है। मुझे ऐसा महसूस होता है कि हर कांग्रेस से हट जाऊं और चुपचाप तीनों काम करने लगूं। उनमें जितने भी सच्चे स्त्री-पुरुष हमें मिल सकते हैं, उन सबके खपने की गुंजाइश है। लेकिन इससे भी लोगों को अशांति होती है। पूना के स्वराज्यवादियों से मेरी लंबी बातचीत हुई। वे कातने को भी राजी नहीं और मेरे कांग्रेस छोड़ देने पर भी सहमत नहीं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि योंही मैं अपना स्वरूप छोड़ दूंगा, मेरा कोई उपयोग नहीं रह जाएगा। यह भद्दी स्थिति है। मगर मैं निराश नहीं हूं। मेरा ईश्वर पर विश्वास है। इतना ही जानता हूं कि इस घड़ी मेरा क्या धर्म है। इसके आगे का मुझे मालूम ही नहीं। फिर मैं क्यों चिंता करूं?

क्या तुम्हारे लिए कुछ रुपये का बंदोबस्त करूं? तुम कुछ कमाई का काम क्यों न हाथ में ले लो? आखिर तो तुम्हें अपने ही पसीने की कमाई पर गुजर करनी होगी, भले ही तुम पिताजी के घर में रहो। कुछ समाचार पत्रों के संवाददाता बनोगे, या अध्यापकी करोगे?

—सप्रेम तुम्हारा मो. क. गांधी"

सवाल यह पैदा होता है कि जब जवाहरलाल असेम्बली और कौंसिलों में जाने के बारे में अपने पिता और सी.आर.दास से सहमत नहीं थे तो उन्होंने म्युनिस्पैलिटी का चेयरमैन बनना कैसे स्वीकार किया? यह भी तो वैसा ही काम था।

लेकिन यह काम उन्होंने डेढ़-दो साल तक बड़ी दिलचस्पी से किया और इतनी अच्छी तरह किया कि प्रांतीय सरकार ने भी उनके इस काम की तारीफ की।

इस बीच में एक बात यह हुई कि पंजाब में सिखों ने नाभा के सिख राजा को गद्दी से उतारने के विरोध में सत्याग्रह शुरू किया। वे जैतों नाम के स्थान पर जहां अखंड पाठ रोक दिया गया था, जत्थे भेजते थे। सरकार मार-पीट करती और फिर सत्याग्रहियों को पकड़कर बीहड़ जंगल में छोड़ आती थी और नेताओं को जेल में डाल देती थी।

जवाहरलाल आचार्य गिडवानी और मद्रास के के. संतानम को साथ लेकर अकालियों का यह सत्याग्रह देखने गये। रियासत की सरकार ने जत्थे के दूसरे लोगों के साथ इन तीनों को भी गिरफ्तार कर लिया, चाहे वे कहते रहे कि हम महज दर्शक हैं और जत्थे में शामिल नहीं। मुकदमा चला और उन्हें दो-दो साल कैद की सजा हुई। कहने की जरूरत नहीं कि रियासत की जेल निहायत सख्त थी। लेकिन मोतीलाल के हस्तक्षेप और वायसराय को लिखने के कारण तीनों कुछ ही दिनों में छूट गये।

नाभा से लौटने पर जवाहरलाल कोकनाडा कांग्रेस अधिवेशन (1923) में शामिल होने गये। वहां कांग्रेस सेवादल की नींव रखी गई। हार्डीकर के कहने पर जवाहरलाल नेहरू उसमें दिलचस्पी लेने लगे।

लेकिन वहां से लौटे ही थे कि इलाहाबाद में एक दिलचस्प घटना घटी। जनवरी 1924 में कुंभ का मेला था। इस पर्व पर लाखों यात्री संगम पर स्नान करने आते हैं। पर उस वर्ष गंगा की धार कुछ खतरनाक सूरत अख्यार कर गई थी और सरकार ने संगम पर नहाने के सिलसिले में पाबंदियां लगा दी थीं। अब नहाने का महत्त्व संगम पर ही था, इसलिए पंडित मदनमोहन मालवीय ने इन पाबंदियों पर एतराज किया और अगर वे न हटाई गईं तो सत्याग्रह की चुनौती दी।

कुंभ के दिन सुबह-सुबह जवाहरलाल नेहरू यों ही मेला देखने की नीयत से संगम पर जा निकले। उनका इरादा उनके अपने कथनानुसार नहाने का बिलकुल नहीं था, क्योंकि गंगा-स्नान से पुण्य अर्जित करने में उनका विश्वास नहीं था। लेकिन जब उन्होंने मालवीयजी को दो सौ आदमियों के साथ जिला मजिस्ट्रेट की मनाही के बावजूद संगम की ओर बढ़ते देखा तो वह भी चट जोश में आकर सत्याग्रही दल में शामिल हो गये। घुड़सवार और पैदल पुलिस ने सत्याग्रहियों को घेर लिया, हल्का-सा डंडा भी चला, लेकिन मालवीयजी और सत्याग्रही अपने स्थान पर डटे रहे। इस हालत में जब काफी समय बीत गया तो मालवीयजी एकाएकी उठे और तीर की तरह घोड़ों और पुलिस वालों के बीच में से निकलकर गोता जा लगाया। जवाहरलाल और दूसरे सत्याग्रही भी उनके पीछे चले और सबके-सब पानी में कूद पड़े। इसके बाद पुलिस वहां से हटा ली गई।

गंगा-स्नान से पुण्य अर्जित करने की बात जाने दीजिए, पर मालवीयजी के साथ अखबारों में जवाहरलाल की भी बड़ी चर्चा रही और उन्होंने खूब ख्याति अर्जित की।

स्वराज्य पार्टी के लोग यह कहकर असेम्बली और कौंसिलों में गये थे कि हम सरकार से सहयोग नहीं करेंगे। लेकिन भीतर जाकर बहुत-से सदस्य ओहदों के प्रलोभन में आ गये। मोतीलाल बहुत गरजे-चिल्लाये और पार्टी से निकाल देने की धमकी दी। लेकिन इससे कुछ लाभ न हुआ। कुछ स्वराजी मिनिस्टर हो गये और कुछ प्रांतों में कार्यकारिणी के सदस्य। उन्होंने अपना एक अलग दल बनाया और अपना नाम

'प्रतिसहयोगी' रखा।

हिन्दू-मुस्लिम एकता टूट चुकी थी और अब बड़े-बड़े शहरों में जरा-जरा-सी बात पर सांप्रदायिक दंगे भड़क उठते थे। जवाहरलाल के कथनानुसार हमारी लड़ाई में स्पष्ट आदर्शों और ध्येयों की कमी ने सांप्रदायिक जहर फैलाने में मदद दी। पंजाब में एक असाधारण और विकट तिकोना तनाव पैदा हो गया था। कारण यह था कि जिस तरह असेम्बली और कौंसिलों में और नौकरियों में मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व दे दिया गया, उसी तरह सिख भी अपने लिए अलग प्रतिनिधित्व की मांग कर रहे थे।

जवाहरलाल इन बातों से बहुत विक्षुब्ध थे और वह हिन्दुस्तान से कहीं दूर चले जाना चाहते थे। फिर उनकी पत्नी कमला अर्से से बीमार रहती थीं और डॉक्टरों ने स्विट्जरलैंड में उनका इलाज कराने का मशविरा दिया। अतएव जवाहरलाल ने चेयरमैनी से इस्तीफा दे दिया।

मार्च 1926 के शुरू में वे कमला और अपनी बेटी इंदिरा के साथ जहाज में बंबई से वेनिस के लिए रवाना हुए। उनकी बहन विजय लक्ष्मी और बहनोई रंजीत पंडित भी इसी जहाज से अपने तौर पर यूरोप जा रहे थे।

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

जवाहरलाल देश के रूढ़िग्रस्त और सांप्रदायिक वातावरण से ऊबकर यूरोप गये थे। कोई पौने दो साल बाद 1927 के अंत में वहां से लौटे तो बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक अवस्था में थे। अपनी इस अवस्था को उन्होंने खुद यों चित्रित किया है :

"मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भर गया है, और इससे पहले भीतरी द्वंद्व और मनसूबों के बिगड़ जाने का, जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिंदु व्यापक हो गया था और केवल राष्ट्रीयता का लक्ष्य मुझे निश्चित रूप से तंग और नाकाफी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतंत्रता लाजिमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में कदम भर है। जब तक सामाजिक आजादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा, तब तक न तो देश ही अधिक उन्नति कर सकता है, न उसमें रहने वाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामले ज्यादा साफ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की दुनिया के, जो कि हर वक्त बदलती रहती है, चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। यूरोप और अमरीका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ आता था। यद्यपि सोवियत रूप के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह जोरों से मुझे अपनी ओर खींचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का संदेश दे रहा है। 1925 के आस-पास यूरोप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने वाला था। लेकिन मैं वहां से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट भविष्य में यूरोप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होने वाली है और बड़े-बड़े विस्फोट होने वाले हैं।

मुझे फौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखाई दिया कि हम देश को

इन विश्व-व्यापी घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें, उसे उनके लिए जहां तक हमसे हो सके वहां तक तैयार रखें। यह तैयारी ज्यादातर विचारों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहली यह थी कि हमारी राजनैतिक आजादी के लक्ष्य के बारे में किसी को कुछ शक नहीं होना चाहिए। यह बात तो सबको साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और औपनिवेशिक पद के बारे में, जो अस्पष्ट और गोल-मोल बातें की जाती हैं, उनसे आजादी बिलकुल जुदा चीज है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरह वह ज्यादा दूर जा सकेगी, बहुत ज्यादा होगा। कांग्रेस तो महज एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है, जिसे दूसरे तरीकों पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन, फिर भी इस दिशा में भी शुरूआत की जा सकती है। कांग्रेस से बाहर मजदूर मंडलों में और नौजवानों में खयालात कांग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे, इसके लिए मैं अपने को कांग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन में कुछ-कुछ यह खयाल भी था कि मैं कुछ महीने सुदूर भीतर के गांवों में रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने में बिताऊं। लेकिन ऐसा होना न था और घटनाओं ने तय कर लिया था कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेंगी।" (मेरी कहानी)

उद्धरण बहुत लंबा हो गया है। लेकिन इस समय देश एक ऐतिहासिक मोड़ पर था। यह उद्धरण इस मोड़ को, आगामी घटनाओं को, हमारी राजनीति को और खुद जवाहरलाल को समझने की कुंजी है। "कुछ-कुछ यह खयाल" की द्विचित्तता और इस वाक्य पर "लेकिन ऐसा होना न था और घटनाओं ने तय कर लिया था कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेंगी" विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। अनायास उर्दू का एक शेर स्मरण हो आया है। शेर यह है :

जी में आता है लगा दूं आग कोहे तूर को,
फिर खयाल आता है मूसा बे-वतन हो जाएगा।

कवि रूढ़ि और अंधविश्वास के खिलाफ विद्रोह की भावना से प्रेरित है। उसे यह कहानी कि खुदा ने हजरत मूसा को कोहे-तूर पर जलवा दिखाया था, सरासर झूठ जान पड़ती है। इस झूठ को मिटाने के लिए वह चाहता है कि कोहे-तूर को ही आग लगा दूं। लेकिन फौरन ही खयाल आता है कि अगर इस झूठ को मिटा दिया, इस कहानी का ही अस्तित्व न रहा तो हजरत मूसा का क्या बनेगा, उसे कौन पूछेगा? वह बे-वतन नहीं हो जायेगा? मूसा में कवि की आस्था है, इसलिए वह कोहे-तूर को आग लगाने का अपना विद्रोही विचार त्याग देता है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू के हजरत मूसा थे महात्मा गांधी, यह बात याद रखने की है।

यूरोप से लौटते ही जवाहरलाल कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में शरीक हुए। वहां उन्होंने मुकम्मल आजादी के बारे में, युद्ध के खतरे के बारे में और

साम्राज्य-विरोधी-लीग के बारे में इत्यादि चार प्रस्ताव रखे, जो विना किसी विरोध के पास हो गये। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज एनी बेसेंट तक ने समर्थन कर दिया। चारों तरफ के इस समर्थन से जवाहरलाल को खुशी के बजाय परेशानी हुई क्योंकि लोगों ने या तो इन प्रस्तावों का मतलब और महत्त्व नहीं समझा या अपने मन में सोचा कि नौजवान अगर प्रस्ताव भर पास कर देने से खुश होते हैं, तो पास कर दो, इसमें हर्ज ही क्या है?

ठीक टालने ही की बात थी। उसी समय उसी बैठक में एक दूसरा प्रस्ताव आया, जो साइमन कमीशन के बहिष्कार संबंधी था और जिसमें यह तजवीज रखी गई थी कि सब दलों की एक कांफ्रेंस बुलाई जाए, जो हिन्दुस्तान के लिए शासन-विधान तैयार करे। जाहिर है कि जो शासन-विधान माडरेटों समेत सब दलों के सहयोग से तैयार होना था, वह डोमीनियन स्टेट्स अर्थात औपनिवेशिक-पद से ज्यादा क्या हो सकता था। सर्वदल सम्मेलन के इस प्रस्ताव ने आजादी के प्रस्ताव को कागज का पुर्जा मात्र बना दिया।

अध्यक्ष डॉ. अंसारी थे। नौजवानों के प्रतिनिधि जवाहरलाल और सुभाष बोस दोनों को सचिव नियुक्त किया गया।

जवाहरलाल ने सुभाष का जिक्र नहीं किया सिर्फ अपने ही सेक्रेटरी बनाये जाने की बात लिखी है और आजादी का प्रस्ताव बे-असर तथा खत्म कर दिये जाने के बावजूद अपने इस पद पर बने रहने के दो कारण बताये हैं; एक यह कि "डॉ. अंसारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे, और इनकी इच्छा थी कि मैं ही सेक्रेटरी बनूं।" दूसरा असल कारण यह था कि उन दिनों कांग्रेस दुविधा में पड़ी हुई थी, कभी वह उग्रता की तरफ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ हटती थी। "मैं चाहता था कि जहां तक मुझसे हो सके वहां तक इस दुविधा में झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ न झुकने दूं। और उसे आजादी के ध्येय पर उठाये रहूं।"

लेकिन हम देखेंगे कि जहां सुभाष अपने ध्येय पर अडिग रहे, वहां घटनाएं जवाहरलाल को अपने साथ घसीट ले गईं।

बाद में जवाहरलाल के प्रस्तावों का विरोध हुआ और सबसे ज्यादा विरोध गांधी ने किया। इन प्रस्तावों की उसने "जल्दबाजी में और बिना सोचे-समझे पेश किया गया" कहकर निंदा की। 4 जनवरी, 1928 को जवाहरलाल के नाम लिखे पत्र में अपने इस विरोध को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"प्रिय जवाहरलाल,

मेरा खयाल है, तुम्हें मुझसे इतना अधिक प्रेम है कि मैं जो कुछ लिखने जा रहा हूं उसका तुम वुरा नहीं मानोगे। जो हो, मुझे तो तुमसे इतना ज्यादा प्रेम है कि जब मुझे लिखने की जरूरत महसूस हो तब मैं अपनी कलम को रोक नहीं सकता।

तुम बहुत ही तेज जा रहे हो। तुम्हें सोचने और परिस्थिति के अनुकूल बनने

का समय लेना चाहिए था। तुमने, जो प्रस्ताव तैयार किए और पास कराये, उनमें से अधिकांश के लिए एक साल की देर थी। "गणतंत्री सेना" (Republican army) में तुम्हारा कूद पड़ना जल्दबाजी का कदम था। परंतु मुझे तुम्हारे इन कामों की इतनी परवाह नहीं, जितने तुम्हारे शरारतियों और हुल्लड़बाजों को प्रोत्साहन देने की है। पता नहीं, तुम अब भी विशुद्ध अहिंसा में विश्वास रखते हो या नहीं। परंतु तुमने अपने विचार बदल दिये हों तो भी तुम यह नहीं सोच सकते कि अनधिकृत और अनियंत्रित हिंसा से देश का उद्धार होने वाला है। अगर अपने यूरोपीय अनुभवों के प्रकाश में देश के ध्यानपूर्वक अवलोकन से तुम्हें विश्वास हो गया हो कि प्रचलित तौर-तरीके गलत हैं तो बेशक अपने ही विचारों पर अमल करो, मगर मेहरबानी करके कोई अनुशासनबद्ध दल बना लो। कानपुर का अनुभव तुम्हें मालूम है। प्रत्येक संग्राम में ऐसे मनुष्यों की टोलियां चाहिए, जो अनुशासन मानें। तुम अपने शस्त्रों के बारे में लापरवाह होकर इस तत्त्व की उपेक्षा कर रहे हो।

अब तुम राष्ट्रीय महासभा के कार्यवाहक मंत्री हो। ऐसी सूरत में तुम्हें सलाह दे सकता हूं कि तुम्हारा कर्त्तव्य है कि केंद्रीय प्रस्ताव अर्थात् एकता पर और साइमन कमीशन के बहिष्कार के महत्त्वपूर्ण परंतु गौण प्रस्ताव पर अपनी सारी शक्ति लगा दो। एकता के प्रस्ताव को संगठन करने और समझाने-बुझाने के तुम्हारे तमाम बड़े गुणों के उपयोग की जरूरत है। मेरे पास अपनी बातों का विस्तार करने का समय नहीं है, परंतु बुद्धिमान के लिए इशारा काफी होना चाहिए।

आशा है, कमला का स्वास्थ्य यूरोप की तरह अच्छा होगा।

सप्रेम तुम्हारा—बापू"

शायद जवाहरलाल ने इसके उत्तर में अपने मन के भाव व्यक्त किये हों। लेकिन उनका पत्र हमारे पास नहीं, लेकिन गांधी ने 17 जनवरी को इसी सिलसिले में फिर एक लम्बा पत्र लिखा। उसका सिर्फ अंतिम पैरा देखिए :

"तुम्हारी पताका फहरे, इसका एक शानदार तरीका सुझाऊं। मुझे प्रकाशन के लिए एक पत्र लिखो, जिसमें तुम्हारे मतभेद प्रकट किये गये हों। मैं उसे 'यंग इंडिया' में छाप दूंगा और उसका संक्षिप्त उत्तर लिख दूंगा। तुम्हारा पहला पत्र मैंने पढ़ने और जवाब देने के बाद फाड़ दिया था। दूसरा रख लिया है और अगर तुम और कोई खत लिखने की तकलीफ नहीं उठाना चाहते तो जो चिट्ठी मेरे सामने है उसी को छापने के लिए तैयार हूं। मुझे पता नहीं, इसमें कोई बुरा लगने वाला अंश है। लेकिन कोई हुआ तो विश्वास रखो मैं ऐसे अंश निकाल दूंगा। मैं उस पत्र को एक स्पष्ट और प्रमाणित दस्तावेज मानता हूं।"

क्या यह पब्लिक के साथ ब्लैकमेलिंग का सुझाव नहीं है? सोचिए, क्या इसी का नाम सत्य और अहिंसा है?

जवाहरलाल ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में गांधी के इस विरोध का

और इन पत्रों का कोई जिक्र नहीं किया, बल्कि लिखा है :

"गांधीजी उन दिनों मद्रास ही में थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे; लेकिन उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लिया। वह कार्यसमिति के मेम्बर थे, पर उसकी बैठकों तक में शामिल न हुए थे। जब से कांग्रेस में स्वराज पार्टी का जोर हुआ, तब से कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हां उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्त्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नहीं की जाती थी। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये, उन्हें वह कहां तक पसंद करते थे? मेरा खयाल तो ऐसा है कि वह उन्हें नापसंद करते थे—उन प्रस्तावों में जो कुछ कहा गया था, उसकी वजह से उतना नहीं, जितना अपनी साधारण प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नहीं की।"

दरअसल गांधी ने 1921 के बाद, जब वह नेतृत्व में आया, कांग्रेस पर से कभी अपनी गिरफ्त ढीली नहीं होने दी। उसने गांधी सेवा संघ, चर्खा संघ और अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ द्वारा अपनी समर्थक शक्तियों को खूब संगठित कर रखा था और उनके द्वारा कांग्रेस पर छाये रहता था। इस मामले में वह कांग्रेस के बाकी पुराने नेताओं से कहीं ज्यादा चालाक था। फिर देश के और विदेश के अखबारों में, जिन पर निहित स्वार्थों का कब्जा था, गांधी को 'महात्मा' बनाने के लिए जबर्दस्त प्रचार किया जाता था। खुद गांधी ने लंगोटी बांधकर अपढ़ जनता की भीषण दरिद्रता को 'नारायण' का रूप दे दिया था और यों अपने को अनेक धार्मिक अंधविश्वासों से पूरी तरह जोड़ दिया था। गांधी की इसी शक्ति का नाम 'अज्ञात तत्त्व' था, जिसे जवाहरलाल ने अच्छी तरह देख-समझ लिया था। इसी से लिखा है कि "कोई भी महत्त्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नहीं की जाती थी" यूरोप के अपने इस दौरे में नेहरू ने, जो कुछ किया, उसकी पूरी जानकारी बराबर गांधी को जुटाई और उसकी राय पूछी। उदाहरण के लिए मद्रास अधिवेशन में, जिस साम्राज्य विरोधी लीग के बारे में प्रस्ताव पास किया गया, उसका संगठन ब्रसेल्स से दलित राष्ट्रों के सम्मेलन ने किया था, जिसमें नेहरू कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में शरीक हुए थे। उसके बारे में गांधी ने जवाहरलाल के नाम अपने 25 मई, 1927 के पत्र में यह मत व्यक्त किया है :

"दलित राष्ट्र सम्मेलन की कार्रवाइयों के बारे में मैंने तुम्हारा सार्वजनिक विवरण और तुम्हारा निजी गुप्त विवरण भी खूब ध्यान लगाकर पढ़ा। खुद मुझे तो इस संघ से बहुत आशा नहीं है, क्योंकि और कुछ कारण न भी हो तो यह तो है ही कि उसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति का दारोमदार उन्हीं सत्ताओं के सद्भाव पर है, जो दलित राष्ट्रों के शोषण में हिस्सेदार हैं और मेरा खयाल है कि यूरोपियन राष्ट्रों के, जो सदस्य इस संघ में शरीक हुए हैं, वे अंत तक गर्मी कायम नहीं रख सकेंगे। कारण, जिसे

वे अपने स्वार्थ की हानि समझेंगे, उसमें वे अपने को अनुकूल नहीं बना सकेंगे। इधर यह खतरा है कि हमारे लोग अपनी भीतरी शक्ति का विकास करके मुक्ति प्राप्त करने के बजाय उसके लिए फिर बाहरी शक्तियों की ओर देखने और बाहरी मदद ढूंढने लगेंगे। मगर यह तो कोरी दिमागी राय है। मैं यूरोप की घटनाओं का ध्यानपूर्वक अवलोकन बिलकुल नहीं कर रहा हूं। तुम मौके पर हो और तुम्हें वहां के वायुमंडल में वास्तविक सुधार दिखाई दे सकता है, जो मुझे बिलकुल दिखाई नहीं देता।"

जिन लोगों को देश की राजनीति में रहनुमाई की भूमिका अदा करनी होती है, उनके लिए लाजिमी है कि वे न सिर्फ राष्ट्रीय बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को भी बखूबी समझें और छोटी-बड़ी घटनाओं का विश्लेषण करके उनका विरोध या समर्थन करें। गांधी भी समझता था और उसने मौके पर न होने की बात तो वैसे ही लिख दी है, असल में उसे कांग्रेस अर्थात् हिन्दुस्तान का संबंध साम्राज्य विरोधी लीग से जोड़ देना नापसंद था। उसकी इस नापसंदी अथवा विरोध का कारण क्या था? कारण भी उसने बता दिया है, लेकिन हकीकत को समझने के लिए हमें भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को और 1927 की इस साम्राज्य विरोधी लीग के पीछे काम कर रही शक्तियों को समझना होगा, तभी हम गांधी के विरोध को समझ पायेंगे।

इसके लिए हमें इतिहास के दस साल पीछे जाना होगा।

रूस की अक्टूबर 1917 की महान क्रांति से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक मूलभूत परिवर्तन आया था। 1918 में क्रांति की पहली वर्षगांठ के अवसर पर अपने भाषण में स्तालिन ने इस मूलभूत परिवर्तन की व्याख्या यों की थी :

(1) इसने (अक्टूबर क्रांति ने) राष्ट्रीय प्रश्न की समस्याओं को विस्तृत कर दिया है। अब यह विशेष रूप से यूरोप ही में राष्ट्रीय दमन के विरोध का प्रश्न नहीं रह गया बल्कि उत्पीड़ित राष्ट्रों, उपनिवेशों और अर्धोपनिवेशों को साम्राज्यवाद की गुलामी से मुक्त करने की सामान्य समस्या बन गई है।

(2) इसने उनकी स्वाधीनता की विशाल संभावनाएं उत्पन्न कर दी हैं और नए मार्ग खोल दिये हैं। अब पश्चिम तथा पूर्व के उत्पीड़ित राष्ट्रों के लिए स्वाधीनता प्राप्त कर लेना सहज हो गया है और इन सबको साम्राज्यवाद के विरुद्ध विजीय संघर्ष की सम्मिलित लहर में इकट्ठे कर दिया है।

(3) इसने विश्व साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांति का एक नया मोर्चा स्थापित करके, जिसमें रूसी क्रांति के द्वारा पश्चिम के सर्वहारा से लेकर पूर्व के उत्पीड़ित राष्ट्र शामिल हैं, साम्राज्यवादी पश्चिम और पराधीन पूर्व के दरम्यान एक पुल निर्माण कर दिया है।

तमाम दुनिया को एक सूत्र अथवा जंजीर में उन्नीसवीं सदी के अंत में खुद साम्राज्यवाद ने बांधा था। यह जंजीर 1917 की अक्टूबर क्रांति ने तोड़ दी और साम्राज्यवाद की क्रांति विरोधी शक्तियों के विश्व मोर्चे के खिलाफ साम्राज्य विरोधी

क्रांतिकारी शक्तियों का एक विश्व मोर्चा कायम हो गया, जिससे गुलाम देशों की आजादी की संभावनाएं बहुत बढ़ गईं। ब्रसेल्स के दलित राष्ट्र सम्मेलन द्वारा स्थापित इस साम्राज्य विरोधी लीग के पीछे यही क्रांतिकारी शक्तियां काम कर रही थीं।

नेहरू ने राजनैतिक स्थिति का यह विश्लेषण तो नहीं किया, शायद वह करना भी नहीं चाहते थे, लेकिन उन्होंने 'मेरी कहानी' में ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा का विवरण इन शब्दों में दिया है :

"पददलित कौमों में आपस में तथा इन कौमों में और मजदूर उग्र दलों में एक-दूसरे के साथ मिलकर संयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्यवाद नाम की चीज के खिलाफ़ आजादी की लड़ाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि लड़ाई की बाबत मिलकर गौर किया जाय और जहां हो सके वहां मिलकर काम करने की कोशिश भी की जाय। इंग्लैंड, फ्रांस, इटली वगैरह जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नहीं थे, इसलिए जर्मन सरकार दूसरी ताकतों के उपनिवेशों और आधीन देशों में आंदोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था, जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे, जो वहां की क्योमिनतांग पार्टी के गर्म दल के थे। यह पार्टी उन दिनों तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी अप्रतिरोध गति के आगे पुराने जमाने के जागीरदारी तत्त्व जमीन में लुढ़कते नजर आ रहे थे। चीन के इस नए चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतों ने भी अपनी तानाशाही आदतों और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन के और उसकी आजादी के मसले के हल हो जाने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। क्योमिनतांग खुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने, जो मुश्किलें आने वाली थीं, उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अंतर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताकत बढ़ाना चाहती थी। गालिबन इस पार्टी के बायें दल के लोगों ने ही--जो दूसरे देशों में कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिलकर काम करते थे—इस तरह के प्रचार पर जोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मजबूत कर सकें।"

क्योमिनतांग चीन में हमारी कांग्रेस जैसी ही राष्ट्रीय संस्था थी, जिसमें देश की आजादी के लिए लड़ने वाले हर तरह के तत्त्व शामिल थे। लेकिन डॉ. सुनयात सेन ने 1919 के चार मई आंदोलन के बाद ही इसे साम्राज्य विरोधी क्रांतिकारी विश्व मोर्चे का अंग बना दिया था। वह एक तरफ विदेशी साम्राज्यवादियों से लोहा ले रही थी और दूसरी तरफ सदियों से खून चूसते आ रहे घरेलू सामंती तत्त्वों का सफाया

कर रही थी। इसी से मेहनतकश चीनी जनता इतनी बड़ी तादाद में और इतनी तेजी से हरकत में आई और क्योमिनतांग को वे शानदार कामयाबियां हासिल हुईं, जिनका उल्लेख जवाहरलाल ने किया है। लेकिन 1927 में दलाल पूंजीवादी वर्ग च्यांगकाई शेक की रहनुमाई में जागीरदारों और साम्राज्यवादियों से जा मिला और क्रांतिविरोधी बन गया। अब आजादी की पताका को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने, जो क्योमिनतांग ही का एक अंग थी, ऊंचा उठाया और देश की पीड़ित, शोषित जनता और प्रगतिशील तत्त्वों के सहयोग से क्रांतिकारी संघर्ष को जारी रखा, साथ ही साम्राज्यवाद विरोधी क्रांतिकारी विश्व मोर्चे से अपने संबंध को और भी दृढ़ बनाया, क्योंकि क्रांति की सफलता के लिए यह भी निहायत जरूरी था। माओत्सेतुंग ने अपने 'नए जन गणतंत्र' निबंध में लिखा है :

"आज की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में उपनिवेशों और अर्धोपनिवेशों के 'हीरो' या तो साम्राज्यवादी मोर्चे में शामिल होकर विश्वक्रांति विरोधी शक्तियों का साथ दें या वे साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में आ मिलें और विश्वक्रांति की शक्तियों का अंग बन जायें। इन दो में से उन्हें एक मार्ग चुनना होगा, कोई तीसरा मार्ग नहीं है।"

यानी स्थिति यह थी कि हर अधीनस्थ राष्ट्र का स्वाधीनता संग्राम अगर वह वाकई स्वाधीनता संग्राम हो, साम्राज्यवाद के विरुद्ध 1917 से शुरू हुई विश्व-क्रांति का एक अविच्छेद और अनिवार्य अंग था। इससे उसकी शक्ति बढ़ती थी। चीन के क्रांतिकारियों ने इस तथ्य को समझ लिया था और जवाहरलाल के कथनानुसार ब्रसेल्स के दलित राष्ट्रों के सम्मेलन में क्योमिनतांग पार्टी के गर्म दल सबसे ज्यादा क्रियाशील थे। उनके अलावा ब्रसेल्स में एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के सभी उपनिवेशों और अर्धोपनिवेशों के लोग शामिल थे। यूरोप में अपने ही पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वाले मजदूर नेता थे। कम्युनिस्ट भी काफी संख्या में थे, पर कम्युनिस्टों की हैसियत से नहीं, किसी मजदूर संघ या किसी वैसी ही संस्था के प्रतिनिधि बनकर आये थे।

वहां जो साम्राज्यवाद विरोधी लीग नाम की स्थायी संस्था कायम की गई, जवाहरलाल भी हिन्दुस्तान की ओर से उसके सदस्य बने। ब्रसेल्स के बाद इस लीग की विभिन्न स्थानों पर कई मीटिंगें हुईं, जिनमें जवाहरलाल ने भाग लिया और उनके द्वारा जो अनुभव अर्जित किया, उसे यों बयान किया है :

"इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक देशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मजदूरों के, जो भीतरी संघर्ष चल रहे थे, उनकी तह तक पहुंचने में मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत कुछ पढ़ा था...लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी क्योंकि उनसे मेरा कोई जाती ताल्लुक नहीं पड़ा था, लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा, जो इन भीतरी संघर्षों

में प्रकट होते हैं। दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल नाम की मजदूरों की जो दो संस्थाएं हैं, उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी से थी। लड़ाई से लेकर अब तक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया, उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे बड़े समर्थक ब्रिटिश-मजदूर दल के तरीकों का खूब तजुरबा हो चुका है। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्युनिज्म की बाबत मेरा खयाल अच्छा हो गया...कम्युनिज्म से मेरा यह संबंध उसके सिद्धांतों की वजह से नहीं था, क्योंकि कम्युनिज्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत मैं ज्यादा नहीं जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही सीमित थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे, मुझे आकर्षित कर रहे थे।'' (मेरी कहानी)

जवाहरलाल 1927 में अपने पिता के साथ सोवियत रूस की यात्रा पर भी गये थे और उन्होंने ये भारी-भारी परिवर्तन अपनी आंखों देखे थे। यही सब अनुभव लेकर वे 'स्वस्थ' मानसिक अवस्था में स्वदेश लौटे और कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में अपने गर्म-गर्म प्रस्ताव रखे।

हमने देखा कि गांधी को ये प्रस्ताव पसंद नहीं आये। उसने न सिर्फ अपना विरोध व्यक्त किया बल्कि जवाहरलाल को सहज में अपनी पताका फहराने का सुझाव भी दे दिया।

दरअसल गांधी ने दलित राष्ट्र संघ के बारे में जो पत्र लिखा था उसी में जवाहरलाल को इस मार्ग पर बहुत आगे न बढ़ने की चेतावनी दे दी थी। उसने जो यह लिखा था कि हमारे लोगों को अपनी भीतरी शक्ति का विकास करके आजादी हासिल करनी चाहिए, इसमें जरा भी सच्चाई नहीं थी। यह भीतरी शक्ति चीन की तरह एक तरफ विदेशी साम्राज्यवाद और दूसरी तरफ घरेलू जागीरदारी के खिलाफ क्रांतिकारी संघर्ष द्वारा ही विकसित हो सकती थी। ''रघुपति राघव राजा राम'' के भजन गाने से तो यह उल्टा और कुंठित होती थी और गांधी की अच्छी तरह समझी-सोची हुई राजनीति का मकसद भी इस शक्ति को उभारना नहीं कुंठित करना था। अतएव साम्राज्यवाद विरोधी लीग में उसकी दिलचस्पी न होना स्वाभाविक बात थी।

लेकिन साम्राज्यवाद विरोधी अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन का, जिसका नेता उस समय सोवियत रूस था, एक ऐतिहासिक महत्त्व था। जवाहरलाल नेहरू ने इस महत्त्व को समझा और उसे कांग्रेस की और विशेषकर अपनी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति मजबूत बनाने के लिए इस्तेमाल किया। लेकिन वह साम्राज्यवाद विरोधी लीग के सदस्य बहुत दिनों न रह सके। 1931 में जब उन्होंने गांधी-इर्विन समझौते का समर्थन किया तो लीग ने एक प्रस्ताव पास करके उन्हें निकाल दिया। नेहरू ने खुद लिखा है : ''मैं यह मंजूर करता हूं कि मैंने उसे नाराज होने का काफी मसाला दिया था; लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती है।''
(मेरी कहानी)

दो घोड़ों का सवार

22 फरवरी, 1928 को कलकत्ता में अखिल बंग छात्र सम्मेलन हुआ, उसमें अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए जवाहरलाल ने नौजवानों से कहा था :

"इस युग का विचार सामाजिक समानता है। आओ हम इस विचार को सुनें और दुनिया को बदलने और उसे रहने की बेहतर जगह बनाने के लिए इस विचार के साधन बन जायें।"

देश ने एक बार फिर करवट ली थी, क्रांतिकारी शक्तियां एक बार फिर जोर-शोर से उभर रही थीं। मजदूर, किसान और नौजवान अपने-अपने ढंग से और अपनी संस्थाओं में संगठित हो रहे थे। इस समय देश की जो परिस्थिति थी, जवाहरलाल ने उसका चित्र यों प्रस्तुत किया है :

"राजनैतिक दृष्टि से 1928 का साल एक भरापूरा साल था। देश-भर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नई प्रेरणा, एक नई जिंदगी, जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सी मौजूद थी, लोगों को आगे की तरफ बढ़ा रही है। जिन दिनों मैं देश से बाहर था, शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तब्दीली हो रही थी। और लौटने पर मुझे यह बहुत बड़ी तब्दीली मालूम हुई। 1926 के शुरू में हिन्दुस्तान पहले जैसा सुप्त और निष्क्रिय बना हुआ था, शायद उस वक्त तक 1922 की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। 1928 में वह तरो-ताजा, क्रियाशील और नई शक्ति से पूर्ण हो गया है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारखाने के मजदूरों में भी और किसानों में भी, मध्य वर्ग के नौजवानों में भी और आमतौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मजदूर संघों की हलचल बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रतिनिधिक जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफी तरक्की हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गर्म हो गये थे। अकसर हड़तालें होती थीं और मजदूरों में वर्ग-चेतना जोर पकड़ रही थी। कपड़े की मिलों और रेलों

में काम करने वाले मजदूर सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा संगठित थे—बंबई की गिरनी कामगार यूनियन और जी.आई.पी रेलवे यूनियन। मजदूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मजदूर संघों को कायम होते देर न हुई थी कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखने वाले दलों में बंट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे, कुछ तीसरी इंटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नर्मी की तरफ यानी सुधारवादी था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रांतिकारी था और आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई किस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है, इसमें मौका-परस्त लोग भी आ घुसे थे।" (मेरी कहानी)

मतलब यह कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन पर अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का जबर्दस्त प्रभाव पड़ रहा था और 1928 में क्रांति की जो लहर उठी, उसमें 1921-22 की अस्पष्टता और धार्मिकता नहीं थी। स्थिति बहुत हद तक बदल चुकी थी। देश मुकम्मल आजादी की ओर बढ़ रहा था। मुकम्मल आजादी का मतलब विदेशी साम्राज्य की गुलामी से मुक्ति प्राप्त करना तो था ही, साथ ही सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाकर धर्म और जाति के दमन और पैसे के शोषण को समाप्त करके समानता स्थापित करना भी था। इस आंदोलन का रुझान समाजवाद की ओर था। जवाहरलाल के कलकत्ता वाले भाषण से भी यही स्वर ध्वनित होता है। लेकिन उन्होंने लिखा है :

"हिन्दुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया। बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहां बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ़ गये, वहां मैं तो बहुत-कुछ मुश्किलों के साथ कदम-कदम आगे बढ़ा। विचारधारा की दृष्टि से मजदूरों का ट्रेड यूनियन आंदोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसंबर 1927 में यूरोप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान में बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर सपने देखने वाले थे। लेकिन धीरे-धीरे उन पर मार्क्स के सिद्धांतों का असर बढ़ता जाता था और उनमें कुछ तो अपने को सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। यूरोप और अमरीका की तरह हिन्दुस्तान में भी, सोवियत यूनियन में जो कुछ हो रहा था, उससे और खासकर पंचवर्षीय योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।" (मेरी कहानी)

इसी वर्ष साइमन कमीशन यह मालूम करने आया कि हिन्दुस्तानी स्वशासन की दिशा में कितना आगे बढ़े हैं और माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों में स्वशासन की जो दूसरी किश्त दी गई थी, तीसरी किश्त में कितना और अधिक पाने के योग्य बन गये हैं। देश की जनता ने इसे अपना अपमान समझा। साइमन कमीशन के खिलाफ

जबर्दस्त जलूस निकले, प्रदर्शन हुए, सरकार की ओर से लाठियां चलीं और बहुतों के सिर फूटे। इससे वातावरण और गर्मा गया।

इन परिस्थितियों में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन इस वर्ष कलकत्ता में हुआ। इसके अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू थे। कारण यह कि इस सम्मेलन में नेहरू रिपोर्ट को पास होना था। नेहरू रिपोर्ट समझौते का वह विधान था, जिसे सर्वदलीय सम्मेलन की कमेटी ने तैयार किया था। चूंकि उस कमेटी के अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू थे, इसलिए उसका नाम नेहरू रिपोर्ट पड़ गया था।

मजे की बात यह है कि गांधी जो चौरी-चौरा की घटना के बाद समाज-सुधार के रचनात्मक कार्य में जा लगा था, अब इस अधिवेशन में राजनैतिक रूप से सक्रिय होकर आगे आया। उसने जो प्रस्ताव पेश किया, उसमें कहा गया था, कि अगर सरकार ने एक साल के भीतर अर्थात 31 दिसंबर, 1929 तक (गांधी ने मौलिक प्रस्ताव में 1930 तक दो साल की अवधि रखी थी, जो संशोधन द्वारा एक साल कर दी गई।) नेहरू रिपोर्ट को मंजूर न किया तो कांग्रेस फिर असहयोग आंदोलन शुरू करेगी और इस बार आंदोलन करबंदी से शुरू होगा।

इस प्रस्ताव का मतलब एक तो अपने आजादी के ध्येय से पीछे जाना और दूसरे संघर्ष को एक साल के लिए टालना और सरकार को उसके मुकाबले की तैयारी के लिए समय देना था। अतएव गर्म दल वालों ने इसका विरोध किया और कांग्रेस में उनका प्रभाव इतना बढ़ गया था कि गांधी के नेता बनकर सामने आने के बावजूद प्रस्ताव थोड़े-से मतों से गिर गया। लेकिन जवाहरलाल ने जो खुद प्रस्ताव के विरोध में थे, वोटिंग में एक टेक्नीकल खामी की ओर ध्यान दिलाया। इसके परिणामस्वरूप दोबारा वोटिंग में प्रस्ताव 973 के मुकाबले 1350 वोटों से पास हो गया।

जवाहरलाल और सुभाष इस अधिवेशन में गर्म दल के प्रमुख नेता थे। जवाहरलाल ने अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की है : "इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आजादी के ध्येय से पीछे खींच लाया था, क्योंकि सर्वदल सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेट्स की भी मांग नहीं की थी।" और तर्क दूसरी ओर भी चलता है, "फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक वक्त में कांग्रेस फूट नहीं होने दी जबकि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने 1930 में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए कांग्रेस को एक साथ रखा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार साल-भर के अंदर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंजूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाजिमी थी और उस वक्त देश की जैसी हालत थी, उसमें सरकार से किसी किस्म की लड़ाई उस वक्त तक कारगर नहीं हो सकती थी, जब तक उसे गांधी का नेतृत्व न मिले।"

फिर अपनी आलोचना भी की है :

"मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था यद्यपि यह

मुखालफत मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी तो भी इस बार भी मुझे प्रधानमंत्री चुना गया। कुछ भी हो मैं मंत्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूं, जो प्रसिद्ध 'विकार ऑफ ब्रे' (सोलहवीं सदी का एक प्रसिद्ध अवसरवादी ऐतिहासिक पात्र) करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई सभापति बैठे, मैं हमेशा उस संगठन को संभालने के लिए उसका मंत्री बनाया जाता था।''

(मेरी कहानी)

सुभाष ने अपनी आत्मकथा 'भारतीय संघर्ष' में लिखा है : ''कलकत्ता कांग्रेस के समझौते-परस्त प्रस्ताव का एक ही प्रयोजन था और वह प्रयोजन था मूल्यवान समय नष्ट करना।''

कांग्रेस इतिहास के अनुसार इस अवसर पर कलकत्ता के पचास हजार मजदूरों ने प्रदर्शन किया और राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा 'स्वतंत्र समाजवादी गणतंत्र' के पक्ष में नारे लगाये।

ब्रिटिश सरकार ने इस अवसर का लाभ उठाया। उसने एक तरफ गर्म दल वालों को कुचलने के लिए दमनचक्र चलाया और मार्च 1929 में समाजवाद के समर्थक तमाम ट्रेड यूनियन नेताओं को गिरफ्तार करके मेरठ साजिस केस चलाया, जो चार साल तक चलता रहा। दूसरी तरफ कांग्रेस की दी हुई एक साल की अवधि से दो महीने पहले अर्थात 31 अक्टूबर, 1929 को वायसराय ने ऐलान किया कि भारत के विधान पर विचार करने के लिए लंदन में एक गोलमेज कांफ्रेंस बुलाई जाएगी।

नेताओं ने वायसराय के इस ऐलान का हार्दिक स्वागत किया और दिल्ली में सर्वदल सम्मेलन बुलाकर बयान जारी किया कि हिन्दुस्तान की जरूरतों के अनुरूप डोमिनियन विधान तैयार करने में ब्रिटिश सरकार पूर्ण सहयोगी देगी।

इस बयान पर गांधी, मिसेज एनी बेसेंट, मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू और दूसरे लोगों के हस्ताक्षर थे। सुभाष ने हस्ताक्षर करने से इंकार किया। पहले जवाहरलाल ने भी इंकार किया था; लेकिन बाद में गांधी के आग्रह पर दस्तखत कर दिये। इससे उनकी 'क्रांतिकारी' ख्याति को जबर्दस्त धक्का पहुंचा और उन्हें जो आत्म-पीड़ा सहन करनी पड़ी, उसका अंदाजा निम्नलिखित पत्र से सहज में लगाया जा सकता है, जो उन्होंने 4 नवंबर, 1929 को गांधी के नाम लिखा :

''प्रिय बापू,

मैंने दो रोज अच्छी तरह से विचार किया है। मेरा खयाल है कि अब मैं स्थिति पर दो दिन पहले की बनिस्बत कुछ ज्यादा ठंडे दिमाग से विचार कर सकता हूं; लेकिन मेरा दिमागी बुखार अभी दूर नहीं हुआ है। अनुशासन की बिना पर आपने मुझसे जो अपील की है, उसे मैं दर-गुजर नहीं कर सकता था। मैं खुद अनुशासन का कायल हूं, फिर भी मेरा खयाल है कि अनुशासन की ज्यादती भी हो सकती है। परसों शाम को मेरे अंदर कुछ ऐसी बातें उठीं जिनको मैं एक सूत्र में नहीं बांध सकता। प्रधानमंत्री

होने के नाते कांग्रेस के तईं मेरी वफादादी होनी चाहिए और उसके अनुशासन में मुझे रहना चाहिए। मेरी और हैसियत और वफादारियां भी हैं। मैं इंडियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस का सदर हूं और 'इण्डिपेंडेंस फॉर लीग' का सेक्रेटरी हूं और युवक आंदोलन से मेरा गहरा ताल्लुक है। इन दूसरी जमातों के तईं, जिनसे मेरा ताल्लुक है, अपनी वफादारी के लिए क्या करूं? मैं इस बात को पहले से ज्यादा अब महसूस करता हूं कि कई घोड़ों पर एक साथ सवारी करना काफी मुश्किल है। जब जिम्मेदारियों और वफादारियों की आपस में टकराहट हो तो इसके अलावा कोई क्या कर सकता है कि अपनी सहज प्रवृत्ति और बुद्धि पर भरोसा करे?

इसलिए सभी बाहरी लगावों और वफादारियों से अलग रहकर मैंने हालत पर गौर किया है और मेरा यह यकीन ज्यादा मजबूत होता गया है कि परसों मैंने जो किया, वह गलत किया। मैं बयान की अच्छाइयों या उसकी पॉलिसी के बारे में कुछ न कहूंगा। मुझे डर है कि उस मसले पर हमारा बुनियादी मतभेद है और यह मुमकिन नहीं कि मैं आपकी राय बदल दूं। मैं सिर्फ इतना ही कहूंगा कि मेरा यकीन है कि वह बयान नुकसानदेह है और मजदूर सरकार के ऐलान का बिलकुल नाकाफी जवाब है। मेरे खयाल से कुछ प्रतिष्ठित लोगों को खुश करने और अपने साथ बनाये रखने की कोशिश में हमने अपने दल के बहुत-से उन दूसरे लोगों को परेशान किया है और करीब-करीब उन्हें दल से बाहर किया है, जिनको दल में रखना कहीं अच्छा था। मेरा खयाल है कि हम लोग एक खतरनाक जाल में उलझ गए हैं, जिससे निकल सकना आसान नहीं, और मैं समझता हूं कि हमने दुनिया को यह दिखला दिया कि अगर्चे हम लोग बातें तो ऊंची करते हैं, लेकिन सौदेबाजी छोटी-मोटी चीजों के लिए कर रहे हैं।

मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश सरकार अब क्या करेगी। मुमकिन है, वह अपनी शर्तों को नहीं मानेगी। मुझे उम्मीद यही है कि वह नहीं मानेगी। लेकिन मुझे इसमें जरा भी शक नहीं कि ज्यादातर हस्ताक्षर करने वाले निश्चय ही आपको छोड़कर उन शर्तों में ब्रिटिश सरकार, जो भी रद्दो-बदल सुझावेगी, उसे मंजूर कर लेंगे। हर हालत में मुझे यह जान पड़ता है कि कांग्रेस के भीतर मेरी हालत रोज-बरोज ज्यादा मुश्किल होती जाएगी। मैंने कांग्रेस की सदारत बड़े शक-शुबहे के साथ मंजूर की थी, लेकिन इस उम्मीद से कि अगले साल एक निश्चित मसले को लेकर लड़ लेंगे। उस मसले पर पहले से ही बादल छा गये हैं और इस पद को मंजूर करने की जो एकमात्र वजह थी, वह अब नहीं रह गई है। इन 'नेताओं के सम्मेलनों' से मुझे क्या सरोकार? मैं अपने को अनधिकार चेष्टा करने वाला समझने लगा हूं और इससे मुझे परेशानी है। मैं अपनी बात खुलकर इसलिए नहीं कह पाता कि सम्मेलन के बिगड़ने का मुझे डर है। मैं अपने को दबाता हूं और यह दबाना कभी-कभी मेरे लिए भारी पड़ता है और मैं भभक उठता हूं और ऐसी चीजें भी कह जाता हूं, जिनको कहने का मेरा कोई

मतलब नहीं होता है।

मैं महसूस करता हूं कि मुझे ए.आई.सी.सी. के पद से इस्तीफा दे देना चाहिए। मैंने पिताजी के पास एक ज़ाब्ते का खत भेज दिया है। जिसकी नकल साथ में भेज रहा हूं।

सभापति का सवाल इससे कहीं ज्यादा मुश्किल है। मैं नहीं समझता कि इस ऐन मौके पर मैं क्या कर सकता हूं। मुझे इस बात पर यकीन हो गया है कि मेरा चुनाव ग़लत था। इस अवसर पर और इस साल के लिए आपको ही चुना जाना चाहिए था। अगर कांग्रेस की पॉलिसी वही है, जिसे मालवीयजी की पॉलिसी कह सकें तो मैं सभापति नहीं रह सकता। अब भी अगर आप राजी हों तो बिना ए.आई.सी.सी. की बैठक बुलाए एक रास्ता निकल सकता है। ए.आई.सी.सी. के मेम्बरों के नाम एक नश्ती चिट्ठी भेजी जा सकती है कि आप सदस्य बनने के लिए रज़ामंद हैं। मैं उनसे माफी मांग लूंगा। यह सिर्फ जाब्ते की कार्यवाही होगी, क्योंकि सभी या करीब-करीब सभी मेम्बर आपके फैसले को खुशी से मान लेंगे।

एक दूसरा रास्ता यह है कि मैं यह ऐलान कर दूं कि मौजूदा हालात में और इस खयाल से कि इस वक्त दूसरा सदर चुनने में दिक्कत होगी, अभी सदारता न छोड़ूं, लेकिन कांग्रेस के फौरन बाद छोड़ दूं। मैं चेयरमैन के तौर पर काम करूंगा और मेरी कोई परवा किये बिना कांग्रेस जैसा चाहे फैसला कर सकती है।

अगर मैं अपने जिस्म की और दिमागी तंदुरुस्ती बनाए रखना चाहता हूं तो इन दो में से एक रास्ता मेरी समझ में जरूरी है।

जैसा कि मैंने आपको लिखा था, मैं कोई पब्लिक बयान नहीं निकाल रहा हूं। दूसरे लोग क्या कहते हैं या, क्या नहीं, इसकी मुझे ज्यादा फिक्र नहीं। लेकिन खुद मुझे शांति होनी चाहिए।

सप्रेम आपका

जवाहरलाल''

इसके उत्तर में गांधी ने, जो धीरज-भरा पत्र लिखा, उससे जवाहरलाल नेहरू का अशांत मन फिर शांत हो गया।

जवाहरलाल ने अपने खत में लिखा है कि कई घोड़ों की एक साथ सवारी बहुत मुश्किल है। दरअसल वह दो ही घोड़ों के सवार थे। एक तरफ समाजवाद और क्रांति की गर्म-गर्म बातें करते थे, इसी से वह नौजवानों के प्रिय बने थे, इसी से 'इंडिपेंडेंस फार इंडिया लीग' के सेक्रेटरी चुने गए थे, जो चाहती थी कि नये आधार पर समाज की पुनर्रचना हो, और ट्रेड यूनियन के सदर तो वह अपने कथनानुसार नर्म दल अर्थात् सुधारवादी दल की ओर से गर्म दल के उम्मीदवार को हराने के लिए ही बनाये गये थे। दूसरी तरफ अमल में गांधी के नेतृत्व को स्वीकार किए हुए थे, जो जनविरोधी और क्रांतिविरोधी था।

उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने की बात काफी दिनों से चल रही थी। जब वह यूरोप में थे तभी गांधी ने अपने 25 मई, 1927 के पत्र में लिखा था, तुम्हारे आगामी कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने की चर्चा है। मेरा इस बारे में पिताजी (मोतीलाल) से पत्र-व्यवहार हो रहा है। पर इसमें काफी अड़चनें थीं। 1929 की कांग्रेस के लिए भी विधिवत गांधी को अध्यक्ष चुना गया था। लेकिन इस बात का आखिरी फैसला करने के लिए लखनऊ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग हुई। उसमें गांधी ने अपना नाम वापस लेकर जवाहरलाल का नाम रख दिया और उसे मंजूर किये जाने पर जोर दिया और लोगों को मंजूर कर लेना पड़ा। यों चोर दरवाजे से लाकर अध्यक्ष की गद्दी पर बिठाया जाना जवाहरलाल को पसंद नहीं आया। लिखा है : "इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुंची और मुझे करीब-करीब महसूस हुआ कि मैं इस पद को लौटा दूं। मगर खुशकिस्मती से मैंने अपने भावों को प्रकट करने से अपने आपको रोक लिया और भारी कलेजा लिए हुए चुपचाप वहां से चला आया।" (मेरी कहानी)

दरअसल गांधी ने यह फैसला बहुत सोच-समझकर किया था। कलकत्ता कांग्रेस में वह गर्म दल वालों का जोश-खरोश देख चुके थे। इस समय देश की जो स्थिति थी, उसमें एक ऐसे ही व्यक्ति को अध्यक्ष बनाने की जरूरत थी, जो क्रांतिकारी नौजवानों का, आजादी चाहने वाले बुद्धिजीवियों का और समाजवाद में विश्वास रखने वाले मजदूरों का प्रिय हो और जवाहरलाल ने उनके नेता रूप में विशेष ख्याति अर्जित कर ली थी।

जो दक्षिणपंथी लोग जवाहरलाल को समझते नहीं थे और उनके गर्म विचारों से चौंकते थे, उन्हें संतुष्ट करने के लिए गांधी ने अपने निर्णय की यह व्याख्या की :

"देश-प्रेम में कोई उनसे बढ़कर नहीं, वह बहादुर भी हैं और जोशीले और दृढ़ संकल्प होने के साथ-साथ उनमें एक राजनीतिज्ञ की तर्क-बुद्धि भी है। वह अनुशासन में चलने वाले हैं। उन्होंने अपने अमल से सिद्ध कर दिया है कि जिन निर्णयों से वह सहमत नहीं होते, उन्हें भी स्वीकार कर लेने में वह समर्थ हैं। वह इतने विनीत और व्यावहारिक हैं कि कभी उग्रता का आचरण नहीं अपना सकते। उनके हाथों में राष्ट्र सर्वथा सुरक्षित है।"

(रजनी पामदत्त : आज का भारत)

नमक सत्याग्रह

31 दिसंबर, 1929 को लाहौर कांग्रेस में मुकम्मल आजादी का प्रस्ताव पास किया गया और पहली मर्तबा तिरंगा झंडा फहराया गया। गांधी के एक पत्र से पता चलता है कि अधिवेशन के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू खुशी में भरकर इस झंडे के गिर्द नाचे थे।

लेकिन इसी लाहौर अधिवेशन के बारे में सुभाष बोस ने अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की है :

"मैंने वाम-पक्ष की ओर से प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस देश में समानांतर सरकार स्थापित करे और इसके लिए मजदूरों, किसानों और नौजवानों को संगठित किया जाये। यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। परिणाम यह कि चाहे कांग्रेस ने मुकम्मल आजादी को अपना ध्येय घोषित कर दिया था; पर इस ध्येय तक पहुंचने के लिए न कोई योजना स्थिर की गई और न आगामी वर्ष के लिए कोई कार्यक्रम निश्चित किया गया। इससे अधिक हास्यस्पद स्थिति और क्या हो सकती थी?" (भारतीय संघर्ष)

आंदोलन की रूप-रेखा तैयार करने और उसे चलाने की जिम्मेदारी गांधी को सौंप दी गई। बहुत सोच-विचार और बड़े इंतजार के बाद गांधी ने, जो आंदोलन शुरू किया, उसका नाम नमक सत्याग्रह पड़ा क्योंकि उन्होंने शुरूआत नमक का कानून तोड़कर की। इससे पहले 2 मार्च, 1930 को उन्होंने वायसराय के नाम अपने पत्र में लिखा :

"हिंसक दल की शक्ति और प्रभाव बढ़ता जा रहा है। मेरा उद्देश्य इस संगठित हिंसा के विरुद्ध (अहिंसा की) शक्तियों को हरकत में लाना है। हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने का अर्थ इन दोनों प्रकार की हिंसक शक्तियों को खुली छूट देना होगा।" (आज का भारत)

सत्याग्रह के नियमों में भली-भांति प्रशिक्षित अपने साबरमती आश्रम के 68 निवासियों की एक टोली को साथ लेकर गांधी ने 13 मार्च को अपना प्रसिद्ध डांडी

मार्च बड़े धूम-धड़क्के से शुरू किया। दुनिया-भर के संवाददाता, प्रेस फोटोग्राफर और सिनेमा-रील तैयार करने वाले उनके साथ-साथ चले। 6 अप्रैल को वे समुद्र के किनारे पहुंचे, पानी उवालकर नमक तैयार किया और कोई गिरफ्तारी नहीं हुई।

दो दिन बाद देश-भर की कांग्रेस कमेटियों को हिदायत कर दी कि वह नमक का कानून तोड़कर सत्याग्रह शुरू कर दें।

बस अब क्या था, लोग तो पहले ही तैयार थे, आंदोलन नमक सत्याग्रह तक सीमित नहीं रह गया। बड़े पैमाने पर जलूस, प्रदर्शन और हड़तालें शुरू हो गईं और बंगाल के क्रांतिकारी नौजवानों ने चटगांव के फौजी शस्त्रागार पर हमला करके हथियार लूट लिए। सारा देश विदेशी गुलामी की जंजीरें तोड़ने और अन्याय तथा शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए उठ खड़ा हुआ।

पेशावर में नेताओं की गिरफ्तारी के विरुद्ध बड़ा भारी प्रदर्शन हुआ। सरकार ने प्रदर्शनकारियों को आतंकित करने के लिए बख्तरबंद कारें भेजीं तो उन्होंने एक कार को आग लगा दी। इस पर अंधा-धुंध गोली चली और सैकड़ों निहत्थे आदमी मौत के घाट उतार दिये गए। इसी समय गढ़वाली सिपाहियों ने अपने निहत्थे भाइयों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। सरकार ने उनके विद्रोही तेवर देखकर तुरंत फौज और पुलिस हटा ली। इसके बाद 25 अप्रैल से 4 मई तक पेशावर पर जनता का शासन रहा। सरकार ने हवाई सेना सहित गोरी फौज बुलाई, तब कहीं पेशावर पर दोबारा कब्जा किया।

अब आंदोलन गांधी के नियंत्रण में नहीं रह गया था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने उसे 5 मई को गिरफ्तार कर लिया। इस पर जबर्दस्त प्रदर्शन और बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं। शोलापुर के 50 हजार मजदूरों ने एक लाख चालीस हजार आबादी के इस शहर के प्रशासन पर अपना अधिकार जमा लिया और यों शोलापुर एक हफ्ता तक स्वतंत्र रहा। सरकार ने 12 मई को वहां मार्शल लॉ लागू किया।

इन घटनाओं का उल्लेख करते हुए जवाहरलाल ने लिखा है :

"सीमा प्रांत में ही वह मशहूर घटना हुई, जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। उन्होंने इसलिए इंकार कर दिया कि सच्चे सिपाहियों को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसंद होता है और इसलिए भी कि भीड़ के लोगों से उन्हें सहानुभूति थी। मगर केवल सहानुभूति ही आमतौर पर सिपाही को अपने अफसर की हुक्म-उदूली जैसी खतरनाक कार्यवाही के लिए प्रेरित नहीं कर सकती, क्योंकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की थी कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजिमेंटों को जिनकी हुक्म-उदूली की खबर फैल नहीं पाई) यह गलत खयाल हो गया था कि अंग्रेजों की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार कार्य करने की हिम्मत करते हैं।

शायद कुछ दिनों या हफ्तों तक आम हलचल और सविनय भंग से लोगों में यह खयाल पैदा हो गया था कि अंग्रेजी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये हैं। और इसका कुछ असर फौज पर भी पड़ा। मगर जल्दी ही यह भी जाहिर हो गया कि निकट भविष्य में ऐसा होने की सूरत नहीं है और फिर फौज में हुक्म-उदूली नहीं हुई। फिर इस बात का भी खयाल रखा गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।''

(मेरी कहानी)

जाहिर है कि फौज बिगड़ रही थी और उसके और ज्यादा बिगड़ने की संभावना थी, बशर्ते कि देश की क्रांतिकारी शक्तियों को उभारा जाता, बशर्ते कि सुभाष के सुझावानुसार कांग्रेस ने समानांतर सरकार स्थापित की होती, अपनी अदालतें कायम की होतीं, मजदूरों, किसानों और नौजवानों की सशस्त्र सेना तैयार की होती। लेकिन कौन करता? सुभाष और क्रांतिकारी विचारों के दूसरे लोगों को तो लाहौर कांग्रेस के फौरन बाद जनवरी में अथवा उससे पहले ही गिरफ्तार कर लिया गया था। गांधी की इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसने तो आंदोलन को मजदूरों, किसानों और नौजवानों में फैलने और क्रांतिकारी रूप धारण करने से रोकने के लिए ही नमक सत्याग्रह चलाया था।

इसके बावजूद आंदोलन फैला और खूब फैला क्योंकि इससे वक्त का तकाजा पूरा होता था और जनता इसके लिए तैयार थी। बंबई देश का औद्योगिक महानगर क्रांति का केंद्र बना हुआ था। मजदूर क्रांति का हिरावल बने हुए थे। वे अपना लाल झंडा और कांग्रेस का तिरंगा झंडा साथ-साथ लेकर चलते थे, उन्हें नौजवानों का और समूची जनता का सहयोग प्राप्त था। सरकार पुलिस और फौज के जोर से प्रशासन चला रही थी वरना शहर पर उन्हीं का कब्जा था। लगभग सभी जगह यही हालत थी, लोगों ने सरकार को और उसके कानून को मानने से इंकार कर दिया था।

इस आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार ने अपनी सारी हिंसक शक्ति लगा दी। कांग्रेस और उसकी तमाम संस्थाओं को अवैध घोषित कर दिया, नए-नए आर्डिनेंस जारी करके सारे देश में मार्शल लॉ की स्थिति पैदा कर दी, लाठी प्रहार और गोली चलाना नित्य की घटनाएं बन गईं। कांग्रेस का झंडा उठाकर चलने वालों को दस-दस साल की सजायें दी जाती थीं। देहात में किसानों के विद्रोह को कुचलने के लिए बड़ी तादाद में पुलिस और फौज तैनात की गई और गांवों पर सामूहिक जुर्माने किए गए। फिर भी जोश बढ़ता ही रहा। लाठी, गोली के घायलों के लिए अस्थाई अस्पताल खोले गए और कैदियों से जेलें भर गईं। 1930 के अंत में सरकारी आंकड़ों के अनुसार साठ हजार और कांग्रेस इतिहास के अनुसार नब्बे हजार आदमी जेलों में बंद थे।

जवाहरलाल ने इस सबका श्रेय गांधी को देते हुए अपनी आत्मकथा—'मेरी कहानी' में लिखा है :

"1930 का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी के सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्‌भुत शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहनी-सी मालूम होती थी और उनके बारे में, जो बात गोखले ने कही थी, वह हमें याद आई—उनमें मिट्टी से सूरमा बना लेने की ताकत है। शांतिपूर्ण सविनय भंग महान राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से, काम में आ सकता है। यह बात सच मालूम हुई।"

अब इस सच्चाई का दूसरा पहलू भी देखिए। एच.जी. अलैग्जेंडर नाम के एक अंग्रेज प्रोफेसर ने 1930 के अंत में गांधी से यरवदा जेल में भेंट की और उसके आधार पर 3 फरवरी, 1931 के 'स्पेक्टेटर' में "गांधीजी का वर्तमान दृष्टिकोण" शीर्षक लेख छपवाया। उसमें प्रोफेसर महोदय लिखते हैं :

"अपनी जेल की तनहाई में भी वह इस बात से अत्यंत चिंतित हैं कि स्थिति यों बिगड़ रही है। और इसी कारण वह जल्द से जल्द शांति और सहयोग की स्थिति पर लौट जाने का स्वागत करेंगे बशर्ते कि उसमें ईमानदारी बरती जाये।...उनका प्रभाव अब भी बहुत ज्यादा है, लेकिन इससे भी ज्यादा खतरनाक और अनियंत्रित शक्तियां दिन-दिन जोर पकड़ती जा रही हैं।" (आज का भारत)

अब घटनाएं यों घटीं कि 20 जनवरी को ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेमजे मेकडानल्ड ने गोलमेज सम्मेलन में घोषणा की कि उनकी मजदूर सरकार हिन्दुस्तान को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में औपनिवेशिक पद देने के प्रश्न पर विचार करने को तैयार है। इस बयान के छः दिन बाद अर्थात् 26 जनवरी को गांधी और कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को जेल से रिहा कर दिया गया और नई दिल्ली में लम्बी-चौड़ी वार्ता शुरू हुई, जिसके फलस्वरूप 4 मार्च, 1931 को गांधी-इर्विन समझौता बरामद हुआ।

इस समझौते के बारे में जवाहरलाल ने अपनी पहली प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की है :

"क्या इसीलिए हमारे लोगों ने अपनी बहादुरी दिखाई? क्या हमारी बड़ी-बड़ी जोरदार बातों और कामों का खात्मा इसी तरह होना था? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता प्रस्ताव और 26 जनवरी की प्रतिज्ञा इसलिए की गई थी? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रात-भर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमें से कोई कीमती चीज सदा के लिए निकल गई हो।"

तरीका यह दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे बरसते नहीं।

गांधी-इर्विन समझौते द्वारा आंदोलन स्थगित कर दिया गया, कांग्रेस ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में शामिल होना मंजूर कर लिया और सरकार ने वे सब कैदी छोड़

दिये, जिन पर हिंसक कार्रवाई का आरोप नहीं था। भगतसिंह और उनके दूसरे क्रांतिकारी साथियों को जिन्होंने देश की राष्ट्रीय चेतना को जगाने में जबर्दस्त भूमिका अदा की थी, फांसी पर लटकने और जेलों में सड़ने के लिए छोड़ दिया गया। शायद इसलिए कि उनकी पैरवी करना गांधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध पड़ता था। लेकिन उन गढ़वाली फौजियों ने तो जिन्होंने चंद्रसिंह के नेतृत्व में अपने निःशस्त्र पठान भाइयों पर गोली चलाने से इंकार किया था, न सिर्फ निस्वार्थ देशभक्ति का सबूत दिया था, बल्कि गांधी के सिद्धांत को भी ऊंचा उठाया था। उनकी भी पैरवी नहीं की गई, उन्हें भी जेल में सड़ने के लिए छोड़ दिया गया। बाद में जब गांधी गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने लंदन गये तो वहां एक फ्रांसीसी पत्रकार के प्रश्न के उत्तर में इसका कारण यह बताया :

"एक फौजी, जो गोली चलाने के हुक्म को नहीं मानता, वह अपनी वफादारी की कसम को तोड़ता है, और एक मुजिर्माना हुक्म-उदूली का अपराधी बनता है। मैं अफसरों और फौजियों को हुक्म-उदूली के लिए नहीं उकसा सकता, क्योंकि जब सत्ता मेरे हाथ में आयेगी मैं भी संभवतः इन्हीं अफसरों और इन्हीं फौजियों को इस्तेमाल करूंगा। अगर मैं उन्हें हुक्म-उदूली की शिक्षा दूंगा तो मुझे इस बात का डर है कि जब मैं सत्ता में होऊंगा तब भी वे ऐसा ही करेंगे।"

(आज का भारत)

जवाहरलाल इस आंदोलन के दौरान दो बार जेल गए। पहले छः महीने के लिए अप्रैल में और दोबारा अक्टूबर में। गांधी-इर्विन समझौते की बातचीत के दौरान वह दिल्ली में मौजूद थे। इस समझौते के फलस्वरूप उन्हें अपने मन में, जो एक विशाल और विक्षुब्ध शून्यता महसूस हुई, उसे दूसरे दिन गांधी के अज्ञात तत्त्व ने भर दिया और बहुत हैस-बैस के बाद कराची अधिवेशन के खुले इजलास में इस समझौते को मंजूर कराने का प्रस्ताव उन्हीं ने पेश किया। लिखा है :

"अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यों उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिए और उनसे पैरवी की कि वे इस प्रस्ताव को हृदय से स्वीकार कर लें। मेरा वह भाषण जो ऐन मौके पर अंतःस्फूर्ति से दिया गया था और हृदय की गहराई से निकला था, जिसमें न अलंकार था न सुंदर शब्दावली, शायद मेरे उन कई भाषणों से ज्यादा सफल रहा जिसके लिए पहले से ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।" (मेरी कहानी)

गांधी गोलमेज सम्मेलन से खाली हाथ लौटा। आंदोलन दोबारा भड़क उठा। फिर नेताओं की गिरफ्तारियां हुईं, लोगों ने फिर लाठियां और गोलियां खाईं और क्रूर दमन का वीरता से सामना किया। पर अब सरकार की स्थिति मजबूत हो चुकी थी और उसके झुकने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। अतएव गांधी ने इस बार आंदोलन उपवास द्वारा समाप्त किया और अपने भक्तों तथा अनुयायियों की तसल्ली के लिए

'यंग इंडिया' में लिखा कि "पूर्ण स्वराज्य तो आत्मा का स्वराज्य है, जो बिना राजनैतिक सत्ता के भी प्राप्त किया जा सकता है।"

नेहरू ने जब हारे हुए प्रत्याशी को जिताने के आदेश दिए

नभाटा समाचार

हरिद्वार: देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने पहले आम चुनावों में उत्तर प्रदेश की रामपुर सीट से पराजित घोषित हो चुके प्रखर कांग्रेसी नेता मौलाना अबुल कलाम आजाद को जबरन जिताने के आदेश दिए थे। उनके आदेश पर उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पं. गोविन्द बल्लभ पंत ने रामपुर के जिलाधिकारी पर घोषित परिणाम बदलने का दबाव डाला और प्रशासन ने जीते हुए प्रत्याशी बिशनचंद्र सेठ की पेटी के वोट मौलाना की पेटी में डलवा कर मतगणना दुबारा करवा दी।

यह रहस्योद्घाटन उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग के अवकाश प्राप्त उपनिदेशक शंभूनाथ टंडन ने अपने एक लेख में किया है। यह लेख पूर्व सांसद और हिंदू नेता स्वर्गीय बिशनचंद्र सेठ की स्मृति में अखिल भारतीय खत्री महासभा दिल्ली द्वारा हाल ही में प्रकाशित स्मृतिग्रंथ 'हिंदुत्व के पुरोधा' में प्रकाशित किया गया है। स्मृतिग्रंथ का विमोचन 18 नवंबर को दिल्ली में पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया था।

अपने लेख 'जब भइये बिशन सेठ ने मौलाना आजाद को धूल चटाई थी: भारत के इतिहास की एक अनजान घटना' में उत्तर प्रदेश के सेवानिवृत्त उपनिदेशक टंडन ने विस्तार से सारी बातें लिखते हुए बताया है कि किस तरह उस जमाने में भी वोटों पर कब्जा करके चुनाव परिणाम बदल दिए जाते थे। पहले आम चुनाव में हिंदू महासभा ने मुस्लिम तुष्टीकरण का पक्षधर मानते हुए पंडित नेहरू और मौलाना आजाद के खिलाफ हिंदू नेताओं को खड़ा करने का निश्चय किया। पंडितजी के खिलाफ फूलपुर से संत प्रभुदत्त ब्रह्मचारी और मौलाना के खिलाफ रामपुर से बिशनचंद्र सेठ को खड़ा किया गया।

सेठ बिशनचंद्र सेठ के पक्ष में भारी मतदान हुआ तथा मतगणना के बाद प्रशासन ने लाउडस्पीकरों से घोषणा भी कर दी कि मौलाना को आठ हजार मतों से हराकर बिशनचंद्र सेठ जीत गए हैं। परिणाम घोषित होते ही सेठ समर्थकों और कार्यकर्ताओं ने विशाल जुलूस निकाला। लेखक ने लिखा है कि वायरलेस से यह खबर लखनऊ और दिल्ली पहुंची तो मौलाना की अप्रत्याशित हार की खबर पर पं. नेहरू बौखला उठे। उन्होंने पं. पंत को चेतावनी भरे शब्दों में संदेश भिजवाया कि मौलाना की हार किसी भी कीमत पर बरदाश्त नहीं की जा सकती। पंत जी का संकेत पाकर जिलाधिकारी ने पुनर्गणना के आदेश दे दिए। सेठ जी को भी इसकी सूचना भेजी गई। सेठ जी ने इस निर्णय का कड़ा विरोध करते हुए कहा कि जब उनके सारे कार्यकर्ता जुलूस में जा चुके है, पुनर्गणना के लिए एजेंट तक मिलना मुश्किल है। पर उनकी नहीं सुनी गई और डीएम ने कहा कि पुनर्गणना आपके सामने कर ली जाएगी। यह कहते ही एडीएम ने उनके मतपत्रों का जखीरा समेट कर मौलाना के मतपत्रों में मिला दिया। सेठ जी इस घटना पर चिल्लाए कि यह क्या हो रहा है तो उन्हें उत्तर मिला कि हम अपनी नौकरी बचाने के लिए आपको हरवा रहे है।

श्री टंडन ने लिखा है कि चूंकि उन दिनों प्रत्याशियों के नामों की अलग-अलग पेटियां हुआ करती थीं और मतपत्र बिना कोई निशान लगाए अलग-अलग पेटियों में डाले जाते थे अतः यह आसान था कि एक प्रत्याशी के मत दूसरे प्रत्याशी के मतपत्रों में मिला दिए जाएं। चुनाव प्रक्रिया की इसी कमी का फायदा उठाकर सत्ता के इशारे पर जीते हुए सेठ को हरवा दिया था और हारे हुए मौलाना विजयी हो गए। यह अलग बात है कि सेठ जी बाद में 1957 और 1962 में कांग्रेसी प्रत्याशी को हराकर ही संसद में गए।

बाप-बेटा

कश्मीरियों का रंग-रूप जगत विख्यात है। पं. मोतीलाल नेहरू भी ऊंचे कद और सुडौल शरीर के सुंदर व्यक्ति थे। इस पर बुद्धि के तेज और विनोदी जीव थे। अपने रंग-रूप और बातचीत की बदौलत हर महफिल की रौनक होते और एक अंग्रेज न्यायाधीश के शब्दों में मेज के जिस कोने पर भी बैठते थे, वहीं से प्रधान जान पड़ते थे।

देखने की बात यह है कि ये लोग कौन थे, जिनसे बातचीत होती थी और जिनके साथ महफिलें सजती थीं। ये लोग या तो ब्रिटिश प्रशासन के उच्चाधिकारी अंग्रेज या फिर रायबहादुर, खां साहब अथवा सर की उपाधि प्राप्त राजभक्त हिन्दुस्तानी होते थे। इन लोगों ने भारतीय जन समाज से अलग अपना एक समाज बना रखा था। मोतीलाल नेहरू उसी समाज के विनोदी प्राणी थे। उनका आदर-सम्मान ब्रिटिश सरकार का दिया हुआ आदर-सम्मान था और जिस सरकार ने उन्हें यह आदर-सम्मान दिया था, उसे बनाये रखना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

जवाहरलाल नेहरू ने अपने पिता के बारे में बहुत कुछ लिखा है। उनकी उदारता, निर्भीकता तथा योग्यता की खूब तारीफ की है। लेकिन उन्होंने पिता को राजभक्तों यानी माडरेटों से अलग दिखाने और अपने को पिता से भी अधिक क्रांतिकारी सिद्ध करने के लिए सत्य को झुठलाया है। लिखा है, "वे प्रचंड भावों, प्रबल विचारों, घोर अभियान और महती इच्छा-शक्ति से संपन्न माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे।"

(मेरी कहानी)

लेकिन हकीकत यह है कि मोतीलाल नेहरू ने 1888 से कांग्रेस अधिवेशनों में शामिल होना शुरू किया। लेकिन सक्रिय वह तब हुए, जब बंग-भंग विरोधी आंदोलन ने राष्ट्रव्यापी रूप धारण किया। जब राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में 1906 के कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज का चार-सूत्री कार्यक्रम पारित हुआ। मोतीलाल नेहरू और दूसरे माडरेट नेताओं की सक्रियता का एकमात्र मुद्दा राष्ट्रवादियों के, जिन्हें वे एक स्ट्रीमिस्ट अर्थात् उग्रवादी कहते थे,

चार-सूत्री कार्यक्रम का विरोध करना था। इसी विरोध के कारण 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस राष्ट्रवादियों और राजभक्तों में बंटी। मोतीलाल नेहरू ने राष्ट्रवादियों के बजाय राजभक्तों का साथ दिया।

इस बारे में जवाहरलाल नेहरू की दलील यह है कि गर्म दल (राष्ट्रवादी) चाहे राजनीति में उग्र विचारों के थे; पर सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। वे धार्मिक अंधविश्वास और रूढ़िवाद को साथ लेकर चलते थे। प्रगतिशील प्रवृत्ति के सुंदरता प्रेमी मोतीलाल नेहरू की इसी कारण उनसे नहीं पटती थी, लेकिन असल बात यह थी कि दूसरे माडरेट लीडरों की तरह मोतीलाल नेहरू भी यह मानते थे कि अंग्रेजों का भारत में आना दैवी कृपा है। वे लोकतंत्र में विश्वास रखते हैं, और हम असभ्यों को सभ्य बनाने आये हैं और सभ्य बनाकर आप ही आप चले जायेंगे, इसलिए उन्हें किसी भी तरह नाराज करने के बजाय उनके साथ सहयोग करो, उनसे सीखो। इसी दृष्टि से उन्होंने अपना पश्चिमीकरण कर लिया था। बढ़िया सूट-बूट, हैट और टाई लगाकर कांग्रेस अधिवेशनों में जाते थे। जहां 'गॉड सेव दि किंग' का गीत गाकर विदेशी प्रभुओं के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते थे। वहां धार्मिक मान्यताओं और सामाजिक रीति-रिवाजों पर कड़ा प्रहार करके प्रगतिशीलता और निर्भीकता का परिचय देते थे। मोतीलाल नेहरू की प्रगतिशीलता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता के जो उदाहरण दिए जाते हैं, वे ऐसे ही हैं। हम भी यहां कुछेक का उल्लेख करते हैं।

एक बार उन्होंने शिमला में अपने सम्मान में दी गई पार्टी में शराब पी। इस पर गांधी ने एतराज किया तो मोतीलाल नेहरू ने 10 जुलाई, 1924 को उत्तर में लिखा :

"मेरा धर्म मेरा देश है, मैं इसकी सेवा ईमानदारी और सच्चाई के साथ तन, मन, धन से सब हालत में अपनी रोशनी के अनुसार करने को तैयार हूं और इस पर संसार के धार्मिक कठमुल्ला सिद्धांत का कोई असर नहीं पड़ेगा।" जहां तक शराब पीने का संबंध है, "मुमकिन है आगे मैं पीऊं या न पीऊं। यह मेरा निजी मामला है। पर यदि मैं पीऊंगा तो चाहे संसार में कुछ भी हो जाये, इसके लिए मुझे इसे चोरी से करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। मैं चाहूंगा कि लोग मुझे जैसा कि मैं हूं, उसी पर मेरे संबंध में मत बनायें, न कि मैं वैसा बनूं, जैसा लोग मुझे चाहते हैं।"

1926 में उन्होंने अपने एक चुनाव भाषण में कहा था, "वेदों ही की बात नहीं, मैं किसी भी पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान नहीं समझता। जहां तक आचार और नैतिक नियमों का संबंध है, वे सभी धार्मिक ग्रंथों में मिलते हैं। पर मैं यह नहीं मान सकता कि ईश्वर इंसान से बातें करता है।"

ऐसे ही उदाहरणों से सिद्ध किया जाता है कि मोतीलाल खुले दिल के निर्भीक और प्रगतिशील व्यक्ति थे। उन्होंने अंधविश्वास और रूढ़िवाद से कभी समझौता नहीं किया। 1899 में अपनी पहली विदेश यात्रा के बाद उन्होंने विरादरी के आदेश पर

'प्रायश्चित' करने से मात्र इंकार कर दिया था। लेकिन सवाल यह है कि, जिस ढंग के समाज में वे रहते थे, उसमें उन्हें बिरादरी के आदेश अथवा जनमत की फिक्र करने की जरूरत ही क्या थी! चुनाव में जिन्हें मताधिकार प्राप्त था, वे भी प्रायः पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता में पले-बढ़े इसी ऊंचे समाज के सभ्य तथा सम्पत्तिशाली लोग थे। उन्हें अगर कोई फिक्र थी तो सिर्फ यह कि अंग्रेज साहबों के सामने अपने को भी साहब दिखायें, प्रगतिशील और साफ-सथुरा बनायें।

स्वदेश लौटने के बाद जब जवाहरलाल नेहरू 1913 के कांग्रेस अधिवेशन में गये तो माडरेटों का बड़े-से-बड़ा नेता गांधी का राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले था। वह वायसराय की कौंसिल का मेम्बर था। उसके ठाठ-बाट ही निराले थे। उसके लिए स्पेशल गाड़ी चलती थी और वह अपने अंग्रेज प्रभुओं की तरह टॉप हैट पहनकर और टाई लगाकर साहब बना रहता था। प्रेमचंद ने अपने 'सेवा सदन' उपन्यास में डॉ. श्यामचरण नाम से उसका सही और सुंदर चित्रण किया है। डॉ. श्यामचरण को भी समाज के रीति-रिवाज की कोई परवाह नहीं। जनता से दूर बंगले में रहता है, घर में भी अंग्रेजी बोलता है और कुत्ते पालता है। जवाहरलाल को इसी गोखले में तेजस्विता, सच्चाई के दर्शन हुए।

मोतीलाल नेहरू वायसराय की कौंसिल के मेम्बर कभी नहीं रहे; लेकिन वायसराय तक उनकी रसाई थी। पंजाब में जब सिखों का जैतों मोर्चा चल रहा था, बेटा नाभा रियासत में गिरफ्तार हुआ तो बाप ने वायसराय को रिहाई के लिए तार भेजा और जवाहरलाल नेहरू को रिहा कर दिया गया। वरना रियासत की जेल से बाहर आना आसान नहीं था। अब जब वायसराय तक उनकी पहुंच थी तो ब्रिटिश प्रशासन में उनके रसूख का अंदाजा सहज में लगाया जा सकता है। कहते हैं कि एक मर्तबा उन्होंने किसी व्यक्ति को बैंक की मुलाजिमत के लिए सिफारिशी चिट्ठी दी। वह मैनेजर के पास पहुंचा। मैनेजर ने चिट्ठी देखी तो वह बोला—"इस सिफारिश का मतलब है नियुक्ति" और जिस पद के लिए सिफारिश की गई थी, उस पर उस व्यक्ति की तुरंत नियुक्ति हो गई।

मोतीलाल नेहरू के ठाठ-बाट भी कौंसिल के किसी मेम्बर अथवा राजा-महाराजा से कम नहीं थे। वह जिस आन-बान और शान से रहते थे, इलाहाबाद का आनंद भवन उसका प्रतीक है। इस आन-बान का कारण यह था कि वह योग्य व्यक्ति थे और उन्होंने अपने वकालत के पेशे में असाधारण सफलता प्राप्त की थी। जो व्यक्ति योग्य हो, जिसकी वायसराय तक रसाई हो और प्रशासन में जिसकी सिफारिश नियुक्ति समझी जाय, उसका वकालत में असाधारण सफलता प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात यह है कि इतने ठाठ-बाट से रहने वाला नटखट स्वभाव का यह दबंग व्यक्ति आत्मा की आवाज पर चलने वाले रूढ़िवादी गांधी का अनुयायी बना!

गांधी ने अपने लेखों की एक छोटी-सी पुस्तक 'विचार-प्रवाह' के नाम से प्रकाशित कराई, जिसकी भूमिका मोतीलाल नेहरू से लिखवाई। अपनी इस भूमिका में उन्होंने लिखा :

"मैंने अवतारों और महात्माओं की बाबत बहुत कुछ सुन रखा है, पर मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। मेरा तो मानव सिर्फ मानव में विश्वास है। इस पुस्तक का जो विचार-प्रवाह है, वह मानव का और मानव ही के बारे में है। इसमें मानव-स्वभाव के दो गुणों—विश्वास और पुरुषार्थ की व्याख्या की गई है।"

गांधी का विश्वास और पुरुषार्थ यह था कि उसने एक साल में स्वराज दिलाने का विश्वास दिलाकर सविनय भंग आंदोलन शुरू किया। मोतीलाल नेहरू पर गांधी के इस विश्वास और पुरुषार्थ का असर यह पड़ा कि वह अपनी ऊंची वकालत छोड़कर और खद्दर पहनकर आंदोलन में कूद पड़े और जेल चले गए।

जवाहरलाल नेहरू ने पिता को साहसी और क्रांतिकारी सिद्ध करने के लिए उनके इस हृदय-परिवर्तन की व्याख्या सैयदैन के साथ एक भेंट-वार्ता में यों की है, "वह गांधीजी सरीखे महापुरुष के संपर्क में आए और साथ ही उस नए आंदोलन के जबर्दस्त सैलाब के भी, जो गांधीजी के साथ भारत में आया।"

(नेहरू-स्मृति अंक, आजकल)

जवाहरलाल नेहरू ने यहां भी सत्य को झुठलाया है, विकृत किया है। इस हृदय-परिवर्तन के रहस्य को समझने के लिए उनकी अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' से एक उद्धरण देना उचित होगा, जिससे और भी बहुत-सी बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

"पिछले साल हिन्दू महासभा के कुछ नेताओं ने मुझ पर यह आरोप लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा और फारसी संस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओं की भावनाओं से अनभिज्ञ हूं। मैं किस संस्कृति से संपन्न हूं या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कल्पना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। दुर्भाग्य से फारसी जुबान तो मैं जानता भी नहीं। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी, फारसी संस्कृति के वातावरण में बड़े हुए थे। यह संस्कृति उत्तर भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत में मिली थी और आज के इन बिगड़े हुए दिनों में भी दिल्ली और लखनऊ उसके खास केंद्र हैं। कश्मीरी ब्राह्मणों में समय के अनुकूल हो जाने की अद्‌भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होंने उन दिनों यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है तो उन्होंने उसे अख्यार कर लिया और उनमें उर्दू और फारसी के भारी पंडित पैदा हुए। उसके बाद उन्होंने उतनी ही तेजी के साथ नई व्यवस्था के अनुसार अपने को बदल लिया। जब अंग्रेजी भाषा को जानना और यूरोपियन संस्कृति को ग्रहण करना जरूरी हो गया तब उन्होंने भी उन्हें ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियों में फारसी के कई नामी विद्वान हैं। इनमें दो के नाम लिए जा सकते हैं, सर तेजबहादुर और राजा नरेंद्रनाथ।"

समय के अनुकूल ढल जाना—रंग बदलना गिरगिट का स्वभाव है। कश्मीरी ब्राह्मणों का स्वभाव भी ठीक यही रहा है। जब अपने राजा थे तो वे संस्कृत पढ़कर उनकी दरबारदारी करते थे, जब तुर्क और मुगल आए तो फारसी पढ़कर उनके हो गए और अंग्रेज आए तो अंग्रेजी सीखकर उनके हो गए। उनके नजदीक शिक्षा का एकमात्र अर्थ दरबार तक रसाई कराना रहा है। मोतीलाल नेहरू अंग्रेजों की पश्चिमी सभ्यता में ढले हुए व्यक्ति थे। अंग्रेजी शिक्षा की तरह माडरेट राजनीति दरबार तक रसाई का, धन और यश कमाने का कारगर साधन थी। अतएव उनकी महती इच्छा-शक्ति उन्हें राजनीति में ले आई। लेकिन बीसवीं सदी के युद्धेतर दूसरे दशक में, जो हालात बन गए थे, उनमें इस महती इच्छा-शक्ति को खद्दर पहनाना और सत्याग्रह करके जेल जाना जरूरी था।

असाधारण सफलता प्राप्त करने और ऊंचा उठने की महत्ती इच्छा-शक्ति जवाहरलाल को विरासत में मिली थी। लेकिन जवाहरलाल का पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा जिन परिस्थितियों में हुई, वे मोतीलाल के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की परिस्थितियों से एकदम भिन्न थीं और जवाहरलाल ने अपने बारे में कि, मैं किस संस्कृति से संपन्न हूं या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कहना मेरे लिए मुश्किल है, ठीक ही लिखा है। कारण यह है कि जब उन्होंने आंख खोली तो घर का रहन-सहन पश्चिमी सांचे में ढल चुका था। इसलिए उनकी शिक्षा बचपन ही से अंग्रेजी ढंग से हुई। फिर 15 से 22 साल तक का नौजवानी का समय जो सीखने और भावी जीवन की नींव पुख्ता करने का समय होता है, इंग्लैंड के हैरो, केम्ब्रिज और इनर टैम्पिल में बीता। वहां उन्होंने न सिर्फ अंग्रेजी साहित्य, संवैधानिक इतिहास, कानून और सामाजिक दर्शन की शिक्षा ग्रहण की बल्कि 'कश्मीरी ब्राह्मणों की समय के अनुकूल हो जाने की अद्‌भुत शक्ति' से अपने को वातावरण के अनुकूल बनाया और पश्चिमी सभ्यता के वे तमाम गुण भली-भांति आत्मसात् किये, जो पिता के गुणों से सर्वथा भिन्न थे और जिनके कारण उन्हें आगे चलकर देश की राजनीति में असाधारण सफलता प्राप्त करने और ऊंचा उठने में अद्‌भुत सहायता मिली।

इस पतनोन्मुख साम्राज्यवादी पश्चिमी सभ्यता ने, जिसने अपने ही पूंजीवादी युग के नैतिक मूल्यों और वैज्ञानिक सत्य को ताक पर रखकर साम्राज्य के विस्तार के लिए हर प्रकार की धोखा-धड़ी, छल-कपट और धार्मिक पाखंड को जायज बना दिया था, जिसने 'इस दुनिया का सच झूठ और झूठ सच है', घोषित करने वाला नीत्शे जैसा सनकी दार्शनिक और 'कला, कला के लिए' का राग अलापने वाले आस्कर वाइल्ड और वाल्टर पेटर जैसे प्रतिक्रियावादी लेखक पैदा किये थे, कथनी और करनी के अंतर को एक घृणित दोष के बजाय राजनीतिज्ञों और शासकों का बहुत बड़ा गुण बना दिया था। ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली ऐसे ही राजनीतिज्ञ और शासक तैयार करती थी। अभिजात वर्ग के हिन्दुस्तानी विद्यार्थी, जो विलायत पढ़ने जाते थे, कमो-बेश इसी

गुण को धारण करते थे। उदाहरण के लिए अपने केम्ब्रिज के साथियों के बारे में जवाहरलाल ने लिखा है :

"मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गर्म तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहां तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे, उनकी भी तारीफ करते थे। लेकिन बाद में मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गंभीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आराम-घर के आग-बबूलों में से विरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आंदोलन में कारगर हिस्सा लिया होगा।" (मेरी कहानी)

अगर हमें बाप-बेटे के बुनियादी फर्क को समझना है तो यह नहीं भूलना चाहिए कि जवाहरलाल भी इसी आराम-घर का एक 'आग-बबूला' था। उन दिनों इन लोगों के लिए ब्रिटिश सर्विस का बड़ा आकर्षण था। पर पिता के समृद्ध जीवन और असाधारण सफलता का उदाहरण सामने था और पिता से भी आगे बढ़ने की महती इच्छा मन में थी। इसलिए उन्होंने वकालत बल्कि यों कहिए कि राजनीति को 'कैरियर' बनाया और हमने देखा कि जवाहरलाल ने शुरू ही से बहुत सोच-समझकर बायें की गर्म-गर्म बातें करने और दायें चलने की दोहरी नीति अपनाई।

शुरू में ब्रिटिश लिबरल पार्टी उनका आदर्श थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मजदूर दल ने उसका स्थान ग्रहण किया और जॉन लेंसबरी, रेमजे मेकडानल्ड और जॉन स्ट्रेची आदि दोहरे चरित्र के अनेकों नेता पैदा किये।

जवाहरलाल ने हिन्दुस्तान की कहानी (डिस्कवरी ऑफ इंडिया) में 'वर्ण-व्यवस्था के आरंभ' पर विचार करते हुए लिखा है : "क्षत्रिय हुए; जो हुकूमत करते थे या युद्ध करते थे, ब्राह्मण बने, जो पुरोहिती करते थे, विचारक थे, जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे।" ब्राह्मणों का एक और भी काम था, "और कोई भी शख्स, जो लड़कर या दूसरी तरह ताकत अपने हाथ में कर लेता था, वह अगर चाहे, तो क्षत्रियों में शरीक हो सकता था, और पुरोहितों के जरिये अपनी वंशावली तैयार करवा सकता था, जिसमें उसका ताल्लुक किसी प्राचीन आर्य शूरवीर से दिखा दिया जाता था।"

जवाहरलाल में अपने पुरोहित कुल के ये दोनों गुण थे, जिन्हें उन्होंने अपनी आधुनिक शिक्षा और दोहरी नीति के अनुरूप ढाला। वह निस्संदेह एक विचारक थे, उन्होंने पिता से भी ऊंची शिक्षा प्राप्त की थी और देश की आजादी के आदर्श से न सिर्फ इस शिक्षा का संबंध स्थापित किया बल्कि जैसे-जैसे यह आदर्श बदला यह भी अपने आपको मानसिक रूप से बदलते रहे और इस संबंध को बराबर बनाये रखा। उदाहरण के लिए 1926-27 की विदेश यात्रा में जब उन्होंने देखा कि समाजवाद दुनिया की एक जबर्दस्त शक्ति बन चुका है और मार्क्सवादी दर्शन न सिर्फ यूरोप

और अमरीका के बुद्धिजीवियों को बल्कि उपनिवेशों की संघर्षरत जनता को भी बहुत ज्यादा प्रभावित कर रहा है तो उन्होंने भी स्वदेश लौटकर समाजवाद का राग अलापना और नौजवानों तथा मजदूरों के आंदोलनों में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया।

दूसरे अपनी विचार-शक्ति से जवाहरलाल ने शुरू ही से समझ लिया कि दायीं राजनीति का असल नेता गांधी है और चट उसका दामन पकड़ लिया। इसके बाद किसी भी हालत में, पिता के नाराज हो जाने के बावजूद उसका साथ नहीं छोड़ा। न सिर्फ साथ नहीं छोड़ा बल्कि उसकी महात्माई की वंशावली तैयार की और उसका संबंध जनता की परंपरागत भावनाओं से जोड़ा। लिखा है :

"किसी-न-किसी तरह की तपस्या का खयाल हिन्दुस्तानी विचारधारा का एक अंग है और ऐसा खयाल न सिर्फ चोटी के विचारकों के यहां है बल्कि साधारण अनपढ़ जनता में फैला हुआ है। हजार बरस पहले यह बात रही है, और आज भी यह बात है और अगर गांधीजी की रहनुमाई में हिन्दुस्तान को हिला देने वाली जनता के आंदोलनों के पीछे जो मनोवृत्ति काम करती है, उसे हम समझना चाहते हैं तो जरूरी है कि हम इस खयाल को समझ लें।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

कोई भी नेता जब तक अपने अतीत, परंपरा और जनता की मनोवृत्ति को न समझ ले, राजनीति क्या किसी भी दिशा में सफल नहीं हो सकता। यहां तक कि जो अंग्रेज हिन्दुस्तान में शासक बनकर आते थे उनके लिए भी हिन्दुस्तान का इतिहास और दर्शन पढ़ना जरूरी था। जवाहरलाल ने भी देश के इतिहास का अध्ययन किया और उसे अपने ढंग से लिखा और 'आम लोगों के अंधविश्वासों की नींव पर अपनी और गांधी की ख्याति के गढ़ निर्माण किये।'

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि मोहनदास करमचंद गांधी और जवाहरलाल नेहरू दोनों की शिक्षा लंदन में हुई थी। जो भारतीय विद्यार्थी वहां पढ़ने जाते थे, चालाक ब्रिटिश प्रशासक उनकी गतिविधियों का पूरा रिकार्ड रखते थे और उनके वर्ग-चरित्र और वंशगत स्वभाव के अनुसार उन्हें बड़ा अफसर अथवा बड़ा नेता बनाकर अपने साम्राज्यवादी हित में इस्तेमाल करते थे। गांधी और नेहरू दोनों का जन्म ऐसे परिवारों में हुआ था, जिनका पेशा दरबारदारी था। गांधी को राजनिष्ठा के साथ-साथ धर्मनिष्ठा भी घुट्टी में मिली थी, इसलिए उसे 'महात्मा' बनाकर और जवाहरलाल को जिसे राजनिष्ठा और धर्मनिरपेक्षता विरासत में मिली थी समाजवादी बनाकर क्रांतिकारी शक्तियों के खिलाफ इस्तेमाल किया। उत्तर प्रदेश, खुफिया विभाग के अवकाश प्राप्त आफिसर धर्मेंद्र गौड ने अपनी 'आजाद के गद्दार साथी' पुस्तक में यह रहस्य यों उद्घाटित किया है :

"महान् आश्चर्यजनक एक टॉप सीक्रेट एण्ड पर्सनल डी.ओ.लेटर भी देखंने को मिला। डायरेक्टर, इम्पीरियल ब्यूरो ने संयुक्त प्रांत के इंस्पेक्टर जनरल को लिखा

था,'...क्रांतिकारियों तथा आतंकवादियों से भारतीय युवक बहुत प्रभावित होते जा रहे हैं। यह स्थिति हमारे लिए खतरनाक है। क्यों न जवाहरलाल नेहरू जैसे शांतिप्रिय व्यक्ति को युवकों का नेता बनने के लिए तैयार किया जाये। हाशिये पर आई.जी. ने ए.आई.जी. को आदेश दिया, 'प्लीज डू दि नीडफुल' (उचित कार्रवाई कीजिए।)''

इसी योजना के अंतर्गत बाप-बेटे को सोवियत रूस की यात्रा पर भेजा गया और इसी योजना के अंतर्गत जवाहरलाल नेहरू को 1929 में कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। 'शांतिप्रिय' जवाहरलाल को गांधी के पूरक के तौर पर 'समाजवादी' नेता बनाने के लिए प्रचार-प्रसार के सभी माध्यम उपयोग में लाये गये।

निस्संदेह गांधी के पूरक की भूमिका जवाहरलाल ने सफलतापूर्वक निभाई। यह भूमिका निभाना बड़ा ही कठिन था। इससे उनके अभ्यंतर पर जो घाव आये, वे कई बार रिसते दिखाई पड़ते हैं।

1936 में 'जय जवाहरलाल की' नाम का एक लेख 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ था। लेखक का नाम चाणक्य दिया गया था। पर बाद में जवाहरलाल ने मित्रों को बताया कि चाणक्य के छद्म नाम से यह लेख उन्होंने खुद लिखा था। इसमें उन्होंने जनता के अंधविश्वास से लाभ उठाने की बात को साफ अल्फाज में कबूला है। लेख यों शुरू होता है :

'"राष्ट्रपति जवाहरलाल की जाय'—प्रतीक्षारत जन-समूह के बीच तेजी से गुजरते हुए 'राष्ट्रपति' ने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई, हाथ भी ऊपर उठकर अभिवादन की मुद्रा में जुड़ गये और पीताभ कठोर चेहरे पर मुस्कराहट खिल उठी। यह अत्यंत उत्साहपूर्ण व्यक्तिगत मुस्कराहट थी और जिन लोगों ने इसे देखा उन सभी ने तुरंत ही मुस्कराहट और हर्ष-ध्वनि के रूप में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

मुस्कराहट गुजर गई और चेहरा पुनः गंभीर, उदास तथा विशाल जन-समूह में जाग्रत भावना के प्रति उदासीन हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी मुस्कान तथा मुद्रा यथार्थ नहीं है, बल्कि उस जन-समूह की सद्भावना प्राप्त करने की चाल भर है, जिनका वह नायक बना हुआ है। क्या सचमुच यही बात है?

फिर से देखें। एक विशाल जलूस है उसमें हजारों-लाखों व्यक्ति उसकी कार को घेरे आनंदातिरेक से हर्ष-ध्वनि कर रहे हैं। वह कार की सीट पर अच्छी तरह संतुलन के साथ खड़ा है, सीधा और लंबा-सा, देवता की तरह शांत और उत्तेजित भीड़ से अप्रभावित है।

अचानक पुनः वही मुस्कान तिर उठती है और अर्थपूर्ण हास्य निखर उठता है, जिससे तनाव टूट जाता है और भीड़ भी हंसने लगती है। वह देव-तुल्य नहीं बल्कि साधारण मानव है, जिसे उन हजारों-लाखों लोगों की मैत्री तथा निकटता प्राप्त है, जो उसे घेरे हुए हैं। भीड़ प्रसन्न हो उठती है और निश्छल मैत्री भाव से उसे अपने हृदय से बैठा लेती है। लेकिन देखें, मुस्कराहट लुप्त हो चुकी है और चेहरा पूरा गंभीर

और उदास हो गया है।

क्या यह सब इस सार्वजनिक व्यक्ति की सुविचारित चाल मात्र है या स्वाभाविक प्रतिक्रिया है? शायद दोनों ही बातें सही हैं क्योंकि अर्से से चली आ रही आदत भी प्रकृति बन जाती है। सबसे प्रभावशाली मुद्रा वह है, जिससे बनावट कम मालूम देती है और जवाहरलाल ने तो पाउडर एवं रंग-रोगन के बिना ही अभिनय करना भली-भांति सीख रखा है। अपनी जानी-बूझी लापरवाही और अल्हड़ता का प्रदर्शन करते हुए वह सार्वजनिक मंच पर पूर्ण कलात्मकता के साथ अभिनय करता है। यह उसे और देश को किस ओर ले जा रही है? इस दिखावटी प्रयोजन-हीनता के पीछे उसका उद्देश्य क्या है, कौन-सी आकांक्षाएं हैं और कौन-सी इच्छा-शक्ति और क्या-क्या अतृप्त कामनाएं हैं?

ये प्रश्न हर सूरत में रोचक लगेंगे, क्योंकि जवाहरलाल एक ऐसा व्यक्ति है जो रुचि और ध्यान को स्वतः आकृष्ट करता है। लेकिन उसका हमारे लिए विशेष महत्त्व है क्योंकि वह भारत के वर्तमान और संभवतः भविष्य से भी बंधा हुआ है। और उसमें भारत को भारी लाभ या क्षति पहुंचाने की क्षमता है। अतः हमें इन प्रश्नों का उत्तर खोजना ही होगा।

करीब दो वर्षों से कांग्रेस का अध्यक्ष बना हुआ है और कुछ लोगों का खयाल है कि वह कांग्रेस कार्यसमिति में सिर्फ एक शिविर अनुयायी है, जिस पर दूसरों का नियंत्रण रहता है, लेकिन फिर भी वह जनता में और जनता के सभी वर्गों में लगातार अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एवं प्रभाव बढ़ाता ही चला जा रहा है।

वह किसानों से लेकर मजदूर तक, जमींदार से लेकर पूंजीपति तक, व्यापारी से लेकर कंगाल तक, ब्राह्मण से लेकर अछूत तक, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई और यहूदी तक, जो भारतीय जीवन के विविध अंग हैं, पहुंचता है। इन सभी से वह भिन्न-भिन्न भाषा बोलता है क्योंकि वह उनको अपने साथ लाने की चेष्टा करता रहता है।"

वह न सिर्फ भिन्न-भिन्न भाषा बोलते थे, वह पठानों में पठानों का, नेपालियों में नेपालियों का और आदिवासियों में आदिवासियों का भेष भी भर लेते थे। इसके बावजूद वह तस्लीम करते हैं—"उनमें मैं अपने को भुला नहीं देता था। मैं अपने को उनसे अलग ही समझता रहा।" और उन्हें यह एहसास कचोटता था—"जब उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?"

इस एहसास के कारण वह कई बार अपने ही से नहीं अपने आध्यात्मिक गुरु गांधी से भी चिढ़ जाते थे। 3 जुलाई, 1939 को वल्लभ भाई पटेल द्वारा उनके नाम लिखे पत्र का यह अंश देखिए :

"उस दिन तुम गुस्से में आ गए और 'हरिजन' में प्रकाशित उनकी मुलाकात के मामले पर बहुत आवेश में बातचीत की। उस बात पर तुमको इतना ज्यादा नाराज

देखकर हम सबको बड़ा दुःख हुआ और हमने अनुभव किया कि तुमने बापू के साथ बहुत अन्याय किया। मुझे यह भी लगा कि इस तरह की दो-एक घटनाएं उन्हें सार्वजनिक जीवन से अलग हट जाने का निर्णय लेने को बाध्य कर देंगी। वह 71 वर्ष के हैं और उनकी बहुत-सी ताकत खत्म हो चुकी। जब तुम्हारी भावनाओं को चोट पहुंचती है तो उन्हें भी बड़ा दुःख होता है। मैं नहीं सोचता कि वह जितना तुमको चाहते हैं, उतना और किसी को चाहते हों और जब वह देखते हैं कि उनके किसी कार्य से तुमको दुःख पहुंचा है तो वह बड़े सोच में पड़ जाते हैं और दुःखी हो उठते हैं। उस शाम के बाद से वह पूरी तरह छुट्टी पाने की सोचने लगे हैं।....

मैं उन्हें यह समझाने की कोशिश कर रहा हूं कि वह जल्दी में कोई निश्चय न करें! परंतु तुम उन्हें जानते हो और वह क्या करेंगे, इसका मुझे कोई पता नहीं है।

तुमको यह बात बता देना मुझे बहुत जरूरी हुआ इसीलिए लिख रहा हूं। यदि तुम उचित समझो तो उन्हें लिख सकते हो कि तुमसे पूरी तरह सलाह-मशविरा किए बगैर कोई निर्णय न करें।"

3 जुलाई, 1929 को सुभाष के नाम अपने एक पत्र में लिखा था :

"मैं एक असंतोषजनक मानवप्राणी हूं, जिसको अपने आपसे और संसार से असंतोष है और जिस छोटी-सी दुनिया में वह रहता है, वह भी उसे बहुत पसंद नहीं करती।"

यह अपने से और दुनिया से विक्षुब्ध सनकी नीत्शे का स्वर है।

नए जाल

नमक सत्याग्रह चाहे 1921-22 के सविनय भंग आंदोलन की तरह पराजय में समाप्त हुआ, पर इससे हमारे विचार और चिंतन में एक गुणात्मक परिवर्तन आया। 1927-28 में जो समाजवादी विचार बनने शुरू हुए थे और जो मजदूरों, किसानों और नौजवानों को बड़े पैमाने पर आंदोलित करने लगे थे, वे संघर्ष के इन सालों में और अधिक स्पष्ट और प्रौढ़ हुए और जनसाधारण की चेतना में रच-बसकर भौतिक शक्ति बनते जा रहे थे।

जवाहरलाल ने अपनी आत्मकथा अर्थात् 'मेरी कहानी' इन्हीं दिनों जेल में लिखी और अपने को समय के अनुकूल ढालकर और धीरे-धीरे विकसित हो रही क्रांतिकारी विचारधारा को अपने ही ढंग से प्रभावित करने की दृष्टि से लिखी। उन्होंने बदलती हुई परिस्थिति को इस प्रकार चित्रित किया है :

"जैसे-जैसे हमारी लड़ाई धीमी पड़ने लगी और उसकी रफ्तार हल्की हो गई, वैसे-वैसे उसमें जोश और उत्साह की कमी आती गई—हां, बीच-बीच में लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे खयालात दूसरे मुल्कों की तरफ ज्यादा जाने लगे और जेल में जितना भी हो सका, मैं विश्व-व्यापी मंदी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। इस विषय की जितनी भी किताबें मुझे मिलीं, उन्हें मैं पढ़ता गया और मैं जितना पढ़ता जाता था उतना ही उसकी तरफ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि हिन्दुस्तान अपनी खास समस्याओं और संघर्षों को लेकर भी जबर्दस्त विश्वनाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की उस लड़ाई का, जो आज सब राष्ट्रों में परस्पर हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है। उस लड़ाई में मेरी अपनी सहानुभूति कम्युनिज्म (साम्यवाद) की तरफ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्युनिज्म की तरफ मेरा बहुत समय से आकर्षण था और रूस मुझे बहुत पसंद आता था। रूस की बहुत-सी बातें मुझे नापसंद हैं।" तर्क यहां भी दोनों ओर चलता है। रूस की निरंकुशता और दमन की बात कहने के बाद लिखा

है, "मगर पूंजीवादी दुनिया में भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नहीं है। और मुझे ज्यादा-से-ज्यादा महसूस होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी सम्पत्ति का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है, बल-प्रयोग के बिना वह ज्यादा दिन टिक नहीं सकता। जब तक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोड़े लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगों का ही धन-मान बढ़ता है, तब तक राजनैतिक स्वतंत्रता होने का भी वास्तव में कुछ अर्थ नहीं।"

फिर पूंजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं का विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण करने के बाद वे पाठक को इस निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं : "हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनों से संबंध रखने वाले प्रश्नों का और देश की हर बड़ी समस्या का हल सिर्फ किसी क्रांतिकारी योजना से ही हो सकता है।"

अब यहां पहुंचकर क्रांतिकारी योजना प्रस्तुत करने के बजाय क्रांतिकारी योजना का विचार ही निरर्थक साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना जान पड़ता है और तर्क उलटी ओर घूम जाता है : "...क्या कांग्रेस अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकड़े हो जायेंगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायेंगे। ऐसा हो जाना भी अवांछनीय या बुरा न होगा, अगर समस्याएं ज्यादा साफ हो जाएं और कांग्रेस में एक मजबूत संगठित दल, चाहे वह बहुमत में हो या अल्पमत में, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाये।

"लेकिन इस समय तो कांग्रेस का अर्थ है गांधीजी। वह क्या करना चाहेंगे। विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप में पिछड़े हुए रहे हैं, लेकिन फिर भी व्यवहार में वह हिन्दुस्तान में इस वक्त के सबसे बड़े क्रांतिकारी रहे हैं। वह एक अनोखे व्यक्ति हैं और उन्हें मामूली पैमाने से नापना या उन पर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नहीं है। लेकिन चूंकि वह हृदय में क्रांतिकारी हैं और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा किये हुए हैं, इसलिए जब तक वह स्वतंत्रता मिल नहीं जाती, तब तक वह इस पर अटल रहकर ही अपना काम करेंगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचंड कार्य-शक्ति को जगा देंगे और मुझे काफी उम्मीद है, वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ एक-एक कदम आगे बढ़ते चलेंगे।"

(मेरी कहानी)

गांधी व्यवहार में कितने बड़े क्रांतिकारी हैं और जनता की प्रचण्ड कार्य-शक्ति को कहां तक जगाना चाहते हैं, वह चौरी-चौरा की घटना के बाद आंदोलन बंद करने से और गांधी-इर्विन समझौते से भली-भांति सिद्ध हो चुका था। लेकिन वह चूंकि गांधी

है इसलिए उसे मामूली पैमानों और तर्कशास्त्र के मामूली नियमों से मापना मुमकिन नहीं। उसमें तो कोई अज्ञात तत्त्व है, जिसके लिए वह खुद भी जवाबदेह नहीं है।

संघर्ष जितना तीव्र हो और जितना लंबा चले, जनता की प्रचण्ड कार्य-शक्ति उतना ही जाग्रत और विकसित होती है और संघर्ष की अग्नि-दीक्षा में तपकर राष्ट्र का क्रांतिकारी चरित्र निखरता-संवरता है। इसीलिए गांधी संघर्ष के उग्र रूप धारण करने और उसके लंबा खिंचने से घबराता रहा। इस बार भी, जब उसके गोलमेज सम्मेलन से लौटने के बाद सरकार ने अपनी ओर से जनता की क्रांतिकारी शक्तियों को कुचलने के लिए हिंसक प्रहार किया और उसके फलस्वरूप अपने आप दोबारा चला तो उस पर गांधी का कोई नियंत्रण नहीं था। जनता ने इसे बिना किसी नेतृत्व के चलाया और ब्रिटिश साम्राज्य की क्रूरता, बर्बरता और अंधे दमन का बड़े जोरों से मुकाबला किया। गांधी को यह मुकाबला भी गवारा नहीं था। पहले उसने आत्मशुद्धि का उपवास रखकर तीन हफ्ते के लिए इसे मुल्तवी किया, बाद में यह अवधि छः हफ्ते तक बढ़ा दी और फिर सामूहिक के बजाय व्यक्तिगत ढंग से शुरू किया। वायसराय से बात करना चाही लेकिन वायसराय लार्ड इर्विन ने भेंट की प्रार्थना तक ठुकरा दी। अतएव आंदोलन 1933 के बाद 1934 में भी बराबर चलता रहा। देश की वीर जनता ने साम्राज्यवादी दमन के सामने आत्मसमर्पण करने से साफ इंकार कर दिया।

जवाहरलाल 30 अगस्त, 1933 को रिहा हो गए थे, लेकिन कोई साढ़े पांच महीने बाहर रहकर फरवरी 1934 में फिर जेल गये और आंदोलन बराबर चल रहा था। अप्रैल में जब वह अलीपुर जेल में थे, अकस्मात अखबार में गांधी का एक बयान पढ़ा, जिसके द्वारा आंदोलन बंद कर दिया गया था। लिखा था :

"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है...इसका मुख्य कारण वह आंखें खोल देने वाली खबर थी, जो मुझे एक बहुत पुराने और मूल्यवान साथी के संबंध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राजी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसंद करते थे। यह सब-कुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसे मैं बहुत अधिक प्यार करता था, दुर्बलताओं की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओं का अधिक बोध हुआ। उन मित्र ने कहा कि आप मेरी दुर्बलता को जानते हैं, लेकिन मैं अंधा था। नेता में अंधापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फौरन यह भांप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मैं अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूंगा।"

नेता का अंधापन और अक्षम्य अपराध दरअसल यह था कि वह जनता के अदम्य साहस और जीवट को समझने में असमर्थ रहा और यह नहीं देख पाया कि उसके तमाम विरोधी प्रयत्नों के बावजूद संघर्ष इतना लंबा खिंच जाएगा। यह साहस और जीवट और संघर्ष का लंबा खिंचना तो उन निहित स्वार्थों के लिए खतरा था,

जिनकी रक्षा के लिए वह कांग्रेस का नेता बना था।

गांधी ने अपने इस वक्तव्य में कांग्रेसजनों को जो रचनात्मक कार्यक्रम सुझाया था वह भी देखिए :

"उन्हें आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुंदरता को समझना होगा, उन्हें राष्ट्रीय निर्माण के कार्य में लग जाना चाहिए, उन्हें स्वयं हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक-दूसरे के साथ निर्दोष संपर्क स्थापित करके लोगों के हृदयों में सांप्रदायिक एकता का बीज बोना चाहिए। स्वयं अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप में निवारण करना चाहिए। और नशेबाजों के साथ संपर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रखकर मादक चीजों के त्याग का प्रचार करना चाहिए। ये सेवाएं हैं, जिनके द्वारा गरीबों की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग गरीबी में न रह सकते हों, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धंधे में पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

जवाहरलाल को यह सब-कुछ बहुत भयंकर और हर तरह अनीतिमय लगा, उनके आदर्शों को जबर्दस्त धक्का लगा और अत्यंत तीव्र वेदना के साथ महसूस किया कि "एक बहुत बड़ा अंतर उन्हें गांधी से अलग कर रहा है और भक्ति के वे सूत्र जिन्होंने इतने वर्षों से उनसे बांध रखा था, टूट गये हैं।" इसी तीव्र 'वेदना' में जब, जवाहरलाल विषय से बहक जाते हैं और दरिद्रता को जड़मूल से बरबाद करने से लेकर यूरोपियन समाजवादी बर्नार्ड शॉ के 'शिला पर' नाटक की भूमिका और फ्रॉयड के ऑडीपस कांपलेक्स तक की चर्चा कुछ इस ढंग से करते हैं कि असाधारण बुद्धि को, खुद तर्क को चकरा देना ही इस चर्चा का प्रयोजन रहा होगा क्योंकि इस चर्चा का अंत व्यक्तिगत ढंग से यों होता है, "खुशकिस्मती से मैं बड़ा खुशमिजाज हूं और मायूसी के हमलों से बड़ी जल्दी संभल जाता हूं। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलाकात हुई। उससे मुझे और भी खुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।" (मेरी कहानी)

कोई चार महीने बाद कमला की बीमारी के कारण जवाहरलाल को जेल से ग्यारह दिन की छुट्टी मिली। तब उन्होंने गांधी के नाम एक लंबा खत लिखा। उसमें कोई खास बात नहीं है। उनके खत के जवाब में 17 अगस्त को गांधी ने जो पत्र लिखा, उसके ये शब्द उल्लेखनीय हैं :

"मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि तुमने मुझमें अपना साथी खोया नहीं। मैं वही हूं जैसा तुम मुझे 1917 में और उसके बाद से जानते हो।" और जिन प्रस्तावों से "तुम्हें पीड़ा हुई है, उनके लिए और उनकी सारी कल्पना के लिए पूरी जिम्मेदारी मेरी है। और मेरा विचार है कि मुझे समय की आवश्यकता को पहचान लेने की अटकल आती है।"

यहां गांधी ने अज्ञात तत्त्व की बात नहीं कही। 'समय की आवश्यकता' को पहचानने की सीधी-सच्ची बात कही है और इससे जवाहरलाल की तसल्ली हो गई, जैसे पहले भी हो जाया करती थी। चेहरे चाहे अलग-अलग थे आखिर दोनों का ध्येय एक ही था।

लेकिन गांधी की इस समझौतेबाजी और आत्म-समर्पण की नीति से बहुत-से लोगों के भ्रम टूटे थे, विशेष रूप से उन नौजवानों के, जो बड़े जोश और उत्साह के साथ तन-मन से इस आंदोलन में कूद पड़े थे। गांधीवाद से और अहिंसा से उनका विश्वास उठ गया था। नौजवानों के चिंतन में जो परिवर्तन आया उसे हमारे जनवादी लेखक प्रेमचंद ने, जो पहले खुद भी गांधीवादी थे, अपनी 'भाड़े के टट्टू' कहानी में यों चित्रित किया है :

"रमेश जेल में छूटकर पक्का क्रांतिकारी बन गया था। जेल की अंधेरी कोठरी में दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद वह दुनिया के उपकार और सुधार के मनसूबे बांधा करता था। सोचता, मनुष्य क्यों पाप करता है? इसलिए कि संसार में इतनी विषमता है। कोई तो विशाल भवनों में रहता है और किसी को पेड़ की छांह भी मयस्सर नहीं। कोई रेशम और रत्नों में मंढ़ा हुआ है, किसी को फटा वस्त्र भी नहीं। ऐसे न्याय-विहीन संसार में यदि चोरी, हत्या और डाका अधर्म है, तो यह किसका दोष है? वह एक ऐसी समिति खोलने का स्वप्न देखा करता, जिसका काम इस संसार से विषमता मिटा देना हो। संसार सबके लिए है और इसमें सुख भोगने का सबको समान अधिकार है। न डाका डाका है, न चोरी चोरी है। धनी अगर अपना धन खुशी से नहीं बांट देता तो उसकी इच्छा के विरुद्ध बांट लेने में क्या पाप? धनी उसे पाप कहता है तो कहे। उनका बनाया हुआ कानून अगर दण्ड देना चाहता है तो दे। हमारी अदालत भी असल होगी। उसके सामने वे सभी मनुष्य अपराधी होंगे, जिनके पास जरूरत थे ज्यादा सुख-भोग की सामग्री है। जेल से निकलते ही, उसने इस सामाजिक क्रांति की घोषणा कर दी। गुप्त सभाएं बनने लगीं, शस्त्र जमा किये जाने लगे।"

प्रेमचंद को, जो इससे पहले पक्के गांधी-भक्त थे, अब कांग्रेस लीडरों की नीति की तह में समझौताबाजी साफ नजर आने लगी थी और उन्हें यह संदेह होने लगा था कि इन लोगों के द्वारा जो स्वराज्य आएगा, उसमें भी लूट-खसोट इसी प्रकार बनी रहेगी। उनकी 'आहुति' कहानी की नायिका रूपमणि इस आशंका को यों व्यक्त करती है :

"अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थांध बना रहे, तो मैं कहूंगी कि ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है। अंग्रेजी महाजनों की धन-लोलुपता और शिक्षितों का सब हित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी

हैं। कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं कि जॉन की जगह गोविंद बैठ जाये।''

यह भविष्यवाणी थी, जो संघर्ष-जनित नई चेतना की देन थी। इसीलिए गांधी संघर्ष के लंबा खिंचने से घबराता था, इसीलिए कोई-न-कोई बहाना लेकर उसे तुरंत बंद कर देता था और इसीलिए उसे स्वराज्य की व्याख्या, पूर्ण स्वराज्य—मुकम्मल आजादी कर देना असह्य था क्योंकि वह मनुष्य के चिंतन को अस्पष्ट और सीमित रखना चाहता था, जान-बूझकर आगे की बात सोचने की मनाही करता था। लोग समाजवाद के बारे में सोचें यह भी उसे गवारा नहीं था। 30 जुलाई, 1936 को जवाहरलाल के नाम अपने पत्र में लिखा है :

''मैं यहां समाजवाद की चर्चा नहीं करूंगा। ज्यों ही मैं अपनी टिप्पणी को दोबारा देखकर खत्म कर दूंगा, तुम्हारे पास उसका मसविदा पहुंच जाएगा और बाद में अखबारों को भेजा जाएगा। मेरी कठिनाई दूर भविष्य के बारे में नहीं है। मैं तो सदा वर्तमान पर ही पूरा ध्यान लगा सकता हूं और उसी की मुझे कभी-कभी चिंता होती है। अगर वर्तमान को संभाल लिया जाय तो भविष्य अपने आप संभल जाएगा। लेकिन मुझे आगे की बात नहीं सोचनी चाहिए।''

लेकिन वह आगे की बात भी सोचता था और खूब सोचता था। यह देखकर कि समाजवादी ग्रुप तादाद और प्रभाव से बढ़ रहे हैं, वह सितंबर 1934 में कांग्रेस से 'अलग' हो गया और योजनाबद्ध तरीके से नेतृत्व की बागडोर जवाहरलाल को सौंप दी क्योंकि नई परिस्थिति को जवाहरलाल द्वारा ही संभाला जा सकता था।

जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' और 'विश्व इतिहास की झलक' लिखकर जनता में यह प्रभाव पैदा किया था कि वह पक्का समाजवादी है और उसका दृष्टिकोण गांधी के दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है। इसके अलावा जब वह 1933 में रिहा होकर पांच-साढ़े पांच महीने जेल से बाहर रहे (हालांकि संघर्ष के दिनों में नेताओं का जेल से बाहर रहना ताज्जुब की बात है) उन्होंने अपने भाषणों द्वारा और अखबारों में लेख तथा वक्तव्य छपवाकर समाजवादी विचारों का खूब प्रचार किया था। इन्हीं दिनों गांधी ने 'मद्रास मेल' में अपना एक इंटरव्यू प्रकाशित कराया, जिसमें जवाहरलाल के कार्य-कलाप पर कुछ खेद व्यक्त करते हुए उनके सुधर जाने की दृढ़ आशा प्रकट की थी। इसी इंटरव्यू में उन्होंने जमींदारियों या ताल्लुकेदारियों को राष्ट्रीय व्यवस्था का बहुत जरूरी अंग बताकर निहित स्वार्थों की वकालत की थी। इस पर टिप्पणी करते हुए जवाहरलाल ने लिखा है, ''भविष्य में मैं उनके साथ कहां तक सहयोग कर सकूंगा।'' अर्थात् इस तरह के भ्रम पैदा करके जवाहरलाल ने नई चेतना का नेतृत्व हथियाया और इस बात को गांधी ही नहीं उसके अनुयायी दूसरे कांग्रेसी नेता भी भली-भांति समझते थे।

इस बार जवाहरलाल 4 सितंबर, 1935 को जेल से रिहा हुए और तुरंत हवाई

जहाज द्वारा जर्मनी चले गए क्योंकि वहां ब्रेडेनवाइलर के स्वास्थ्य-गृह में कमला की हालत नाजुक हो गई थी। वहां से वह पत्नी को स्विट्जरलैंड ले आये, स्वास्थ्य में पहले कुछ सुधार हुआ लेकिन आखिर वहीं 28 फरवरी, 1936 को कमला का देहांत हो गया।

इस दौरान जवाहरलाल ने कांग्रेस नेताओं से अपना संपर्क बराबर बनाये रखा। 19 दिसंबर, 1935 को राजेंद्र प्रसाद ने उन्हें अपने एक पत्र में लिखा था :

"आसार ऐसे नजर आ रहे हैं कि अगली कांग्रेस के अध्यक्ष आप ही चुने जायेंगे। मुझे मालूम है कि आपके और वल्लभ भाई, जमनालालजी तथा मुझ जैसे आदमियों के दृष्टिकोण में कुछ अंतर है। अंतर बुनियादी ढंग का है। मैं यह समझता हूं कि यह अंतर वर्षों से रहा है और फिर भी हम लोग साथ-साथ काम कर सके हैं। अब जबकि बापू एक प्रकार से अलग हो गए हैं और पूछने पर ही अपनी सलाह देते हैं, यह संभव है कि यह अंतर कुछ और भी उभर आये। परंतु मेरा विश्वास है कि जब तक हमारे कार्यक्रम और काम के तरीके में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होता तब तक यह संभव बना रहेगा कि हम सब मिलकर साथ-साथ काम करते रहें।" फिर वर्तमान स्थिति और कठिनाइयों का जिक्र करने के साथ लिखा है, "संघर्षों में हमें ऐसी परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ता है और हमें चाहे कितना ही रोष और झुंझलाहट हो, हमें कड़ुवे घूंट पीने ही पड़ते हैं और अनुकूल समय आने तक काम करते ही रहना पड़ता है। ऐसे संकटों में से एक से हम गुजर रहे हैं।"

अप्रैल 1936 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। संकट को टालने और अनुकूल समय लाने के लिए जवाहरलाल को इसका अध्यक्ष बनाया गया। जवाहरलाल ने अपने भाषण में समाजवाद की और विषमता मिटाने की बात बड़े जोर से कही, वर्तमान स्थिति की खुलकर आलोचना की और कांग्रेस की कमजोरियां गिनवाते हुए स्वीकार किया कि "हम बहुत हद तक जनता के साथ संपर्क खो बैठे हैं।"

यह एक हकीकत थी और आंदोलन के साथ गांधी की आंख-मिचौनी का प्रमाण। इस भाषण से जवाहरलाल की लोकप्रियता बढ़ी।

1935 के नए विधान के अनुसार, जो चुनाव लड़े जाने वाले थे, लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस ने उनमें भाग लेने का निर्णय लिया और चुनाव-घोषणा में कहा गया कि "इस विधान के साथ किसी प्रकार का सहयोग करना देश के स्वाधीनता-संग्राम के साथ गद्दारी और ब्रिटिश साम्राज्य के शिकंजे को दृढ़ बनाना और भारतीय जनता के शोषण को, जो साम्राज्य की गुलामी में पहले ही घोर दरिद्रता का जीवन बिता रही है, और बढ़ाना है।"

जवाहरलाल के अध्यक्ष बनने और ये सब बातें कहने के बावजूद, जो कार्यसमिति संगठित की गई, उसके बारे में रफी अहमद किदवई की राय देखिए। उन्होंने 20 अप्रैल को जवाहरलाल के नाम यह खत लिखा :

"प्रिय जवाहरलाल जी

पिछले कुछ दिन मैंने बड़ी तकलीफ में काटे। जाहिरा तौर पर आप ही सिर्फ हमारी एक उम्मीद थे, लेकिन क्या आप ख्वाबी साबित होने जा रहे हैं? आप गांधीवाद के असर का और उसकी मिली-जुली मुखालफ़त का कहां तक मुकाबला कर सकेंगे, इसमें कुछ लोगों के अपने-अपने शक हैं।

आपको वर्किंग कमेटी को फिर से बनाने का मौका दिया गया था। आपने टंडन, नरीमान, पट्टाभि, सार्दूल सिंह को छोड़ दिया। आपने गोविंददास और शरत बोस के मुकाबले में भोला भाई और राजगोपालाचारी को शामिल किया है। इन लोगों से आपको ताकत मिलती। इन्होंने छल करके आपको बीच के तबके के लोगों से अलहदा कर दिया है। हम ए.आई.सी.सी. और डेलिगेट दोनों में कमजोर पड़ गए हैं। जो वर्किंग कमेटी आपने बनाई है, वह पिछली के मुकाबले ज्यादा दकियानूसी होगी।

हो सकता है कि मेरा नजरिया बहुत तंग हो। उसूली बहस के मुकाबले अक्सरियत पर मेरा ज्यादा भरोसा रहता है। हालात का मुझ पर जो असर हुआ, उसे बताने के लिए मैं बेचैन था।" (रफी)

रफी अहमद किदवई को क्या मालूम कि छल जवाहरलाल के साथ नहीं जनता के साथ किया जा रहा है और उसमें खुद जवाहरलाल नेहरू भी शामिल हैं। शिकारी पुराने थे सिर्फ जाल नए थे।

त्रिपुरी

1930-34 के लंबे और कड़े संघर्ष के फलस्वरूप हमारे चिंतन में जो गुणात्मक परिवर्तन आया था, उसका सारतत्व यह था कि आम जनता तथा बुद्धिजीवी आजादी का मतलब यह लेने लगे थे कि हमें न सिर्फ साम्राज्यवाद की दासता से मुक्ति प्राप्त करनी है बल्कि पैसे और धर्म की गुलामी से भी छुटकारा पाना है, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में मूल परिवर्तन करके ऊंच-नीच और जातिवाद के सदियों पुराने रोग को समाप्त करना है। सोच की इस तब्दीली को संक्षेप में वर्ग-चेतना की संज्ञा देना उपयुक्त होगा।

वर्ग-चेतना स्पष्ट नहीं हो पाई थी कि आंदोलन बंद कर दिया गया। फिर भी कांग्रेस अब पुरानी कांग्रेस नहीं रह गई थी। उसमें गर्म दल और नर्म दल की जो दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां थीं, उन्होंने अब इस वर्ग-चेतना के आधार पर वाम-पक्ष और दक्षिण-पक्ष का रूप धारण कर लिया था। इन दोनों पक्षों का आपसी संघर्ष हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का भीतरी संघर्ष था और वह अनिवार्य था क्योंकि संघर्ष प्रगति का अटल नियम है।

इस भीतरी संघर्ष में इन दोनों पक्षों की हार-जीत ही से हमारी आजादी की लड़ाई का और देश के भविष्य का निर्णय होना था।

हमारे राष्ट्रीय संघर्ष में दक्षिण-पक्ष, जिन वर्गों का प्रतिनिधि था, वे अपनी सामाजिक स्थिति और ऐतिहासिक चरित्र के कारण मेहनतकश अवाम के क्रांतिकारी कर्म से संत्रस्त थे और रूस की समाजवादी क्रांति के बाद यह संत्रास और बढ़ गया था। कांग्रेस हाईकमान गांधी के नेतृत्व में इन्हीं वर्गों का प्रतिनिधि था।

दक्षिण-पक्ष के दर्शन और नीतियों को काफी देखा-समझा जा चुका है। यहां हम संक्षेप में वाम-पक्ष का और दक्षिण-पक्ष के साथ उसके संघर्ष के परिणाम का अध्ययन करेंगे ताकि हम जवाहरलाल की ऐतिहासिक भूमिका और देश की राजनीति को भली प्रकार समझ सकें।

मुख्य रूप से कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी वाम-पक्ष का

प्रतिनिधित्व करती थीं, जो मार्क्सवाद और समाजवाद को अपनी राजनीति का आधार मानती थीं। इसके अलावा कांग्रेस के अंदर वाम-पक्षी राष्ट्रीयवादी तत्त्व बहुत बड़ी संख्या में थे, जिनका गांधीवाद में विश्वास नहीं था और जो देश की आजादी के लिए सशस्त्र क्रांति का मार्ग अपनाने को तैयार थे।

कम्युनिस्ट पार्टी 1925 में बनी थी। वैसे उसके एक ग्रुप ने 1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में पर्चे बांटे थे, जिनमें यह मांग की गई थी कि कांग्रेस ट्रेड यूनियनों और किसान सभाओं की मांगों को अपने कार्यक्रम में शामिल करे ताकि मेहनतकश जनता को आजादी की लड़ाई के लिए हरकत में लाया जा सके। उभरते हुए कम्युनिस्ट तत्त्वों को कुचलने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1924 में कानपुर षड्यंत्र केस चलाया और कम्युनिस्ट नेताओं को लंबी-लंबी सजाएं दीं। इसके बावजूद उनकी शक्ति बढ़ती रही। जनता में अपने काम को फैलाने के लिए उन्होंने 1927 में किसान-मजदूर पार्टी भी संगठित की। 1929 तक उनका असर किसानों में और विशेषकर मजदूर आंदोलन में बहुत बढ़ गया था। इसी कारण सरकार ने 1929 में उन्हें बड़े पैमाने पर गिरफ्तार किया और मेरठ साजिश केस चलाया, लेकिन सरकार के इस दमन से उनका असर कम होने के बजाय बढ़ता ही चला गया, यहां तक कि 1934 में आंदोलन वापस लिए जाने पर जब सरकार ने कांग्रेस पर से रोक हटाई तो कम्युनिस्ट पार्टी पर रोक लगा दी। इसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी आठ साल अर्थात, 1942 तक गैर-कानूनी बनी रही

जवाहरलाल ने इस समय का स्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा है : "कम्युनिज्म के और समाजवाद के धुंधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में और समझदार सरकारी अफसरों तक में फैल चुके हैं, कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतंत्र पर ब्राइस और मॉर्ले, कीथ और मैथिनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्युनिज्म और रूस पर लिखा साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ षड्यंत्र केस ने लोगों का ध्यान इन नए विचारों की तरफ फेरने में बड़ी मदद दी और संसारव्यापी संकटकाल ने इस तरफ ध्यान देने की मजबूरी पेश कर दी। हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नई भावना दिखाई देती थी।..."

और फिर—

"हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्युनिस्ट पिछले कई बरसों से गांधीजी और कांग्रेस पर भयंकर हमले करते रहे हैं और उन्होंने कांग्रेस नेताओं पर हर तरह की दुर्भावनाओं के आरोप लगाये हैं। कांग्रेस की विचारधारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धांतिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी और बाद की घटनाओं से वह किसी अंश तक सही भी साबित हुई।..."

आलोचना क्या थी, इसका भी अपने ढंग से उल्लेख किया है : "कम्युनिस्टों

की राय के मुताबिक कांग्रेस के नेताओं का मकसद रहा है सरकार पर जनता का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों और जमींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाएं पा लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—'किसानों, निम्न वर्ग और कारखानों के मजदूर वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक असंतोष को उभारकर बंबई, अहमदाबाद और कलकत्ता के मिल मालिकों और लखपतियों को लाभ पहुंचाना।' यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूंजीपति टट्टी की ओट में कांग्रेस कार्यसमिति को हुक्म देते हैं कि पहले तो वह सार्वजनिक आंदोलन चलाये और जब वह बहुत व्यापक और भयंकर हो जाये तब उसे स्थगित कर दे या किसी छोटी-मोटी बात पर बंद कर दे। और कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेजों का चला जाना पसंद नहीं करते; क्योंकि जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियंत्रण करने की उनकी जरूरत है। और मध्यम वर्ग अपने में यह काम करने की ताकत नहीं मानता।

यह अचरज की बात है कि कम्युनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर भरोसा रखते हैं। लेकिन चूंकि प्रकट रूप से उनका विश्वास हमी पर है, इसलिए आश्चर्य नहीं कि वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी गलती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आंदोलन को यूरोपियन मजदूरों के पैमाने से नापते हैं; और चूंकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मजदूर नेता मजदूर आंदोलन के साथ विश्वासघात करते रहे हैं इसीलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आंदोलन कोई मजदूरों या श्रमिकों का आंदोलन नहीं है। जैसा कि उसके नाम से जाहिर है, वह एक मध्यवर्गी जनता का आंदोलन है और अभी तक उसका उद्देश्य समाज-व्यवस्था को बदलना नहीं, बल्कि राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना ही रहा है।..." (मेरी कहानी)

यह विश्लेषण बिलकुल सही था। गांधी ठीक इसी ढंग से आंदोलन चलाता और बंद करता आया था। जवाहरलाल ने बात बदलकर इस तथ्य को झुठलाया है। लेकिन कम्युनिस्टों ने क्या किया और क्या नहीं किया यह भी जान लेना चाहिए।

तीसरी इंटरनेशनल की छठी कांग्रेस 1926 में स्तालिन की अध्यक्षता में हुई थी। उसमें इस बात पर विचार किया गया था कि उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वाधीनता के जो आंदोलन चल रहे हैं, उनमें कम्युनिस्ट पार्टियों की भूमिका क्या हो। चीन की क्योमिनतांग पार्टी और उसके नेता च्यांगकाई शेक और मिश्र की वफद पार्टी और उसके नेता बगलोल पाशा के साथ-साथ गांधी, कांग्रेस और स्वराज्य पार्टी का विश्लेषण करके कम्युनिस्टों को सलाह दी गई थी कि वे गांधी के सत्याग्रह आंदोलन में न पड़कर सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष शुरू करें और मजदूर वर्ग के केडर को पार्टी नेतृत्व में लायें।

हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों ने तीसरी इंटरनेशनल की इस सलाह पर चलते हुए गांधी

और कांग्रेस की सुधारवादी नीतियों की बड़ी आलोचना की और इसी कारण नमक सत्याग्रह में भाग नहीं लिया। लेकिन यह तो इस सलाह का सिर्फ नकारात्मक पहलू था जबकि इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण धनात्मक पहलू यह था कि वे साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध मेहनतकश जनता का सशस्त्र संघर्ष चलाते और उनकी रहनुमाई करते। कम्युनिस्टों ने इस दिशा में कुछ नहीं किया, हालांकि 1930-34 के आंदोलन ने इसके लिए एक अच्छा अवसर जुटा दिया था। जहां मेरठ षड्यंत्र केस के कारण जनता में कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बहुत बढ़ गया था, वहां दूसरी तरफ राष्ट्रीय आंदोलन के साथ बार-बार की गद्दारी से मध्य वर्ग के नौजवानों और बुद्धिजीवियों के गांधी और कांग्रेस के बारे में भ्रम दूर हुए थे। विश्वव्यापी मंदी के कारण मेहनतकश जनता को संकट से जूझना था, शहरों में मजदूरों की बड़ी-बड़ी हड़तालें हो रही थीं और किसानों में अपने आप लगानबंद आंदोलन चल चुका था। जनता के इन संघर्षों पर कांग्रेस का और गांधी का कोई नियंत्रण नहीं रह गया था।

फिर कम्युनिस्ट पार्टी ने इतिहास का विश्लेषण करके मार्क्सवादी विचारधारा का संबंध भारतीय परंपरा से नहीं जोड़ा और वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करके यह नहीं बताया कि हम क्रांति की किस मंजिल में हैं और हमें उसके लिए राष्ट्रीय जीवन के किन तत्त्वों का सहयोग प्राप्त करना है। सिर्फ गांधी और कांग्रेस की सुधारवादी नीतियों की अमूर्त आलोचना करके और समाजवाद का नारा हवा में उछालकर तो बात नहीं बन सकती थी।

इसके बावजूद 1934 के बाद देश में अगर कम्युनिस्ट पार्टी का असर बढ़ा तो इसके भीतरी और बाहरी दो कारण थे।

भीतरी कारण ये थे कि सरकार के दमन और उसे अवैध घोषित करने से पार्टी की प्रतिष्ठा बढ़ी। दूसरे, आतंकवाद का युग अब समाप्त हो चुका था। बंगाल की अनुशीलन और युगांतर के क्रांतिकारी, भगतसिंह और आजाद के साथी और पंजाब में गदर पार्टी के बाबा जेलों से बड़ी तादाद में मार्क्सवादी बनकर निकले और कम्युनिस्ट पार्टी में भर्ती हो गये। उनका आम जनता में बड़ा असर था। तीसरे ऐसे सच्चे कम्युनिस्टों की संख्या भी काफी थी, जो किसान-मजदूर आंदोलन में जी-जान से लगे हुए थे और हर तरह के दमन का मुकाबला बहादुरी से करते थे।

बाहरी कारण यह था कि रूस की अद्‌भुत सफलताओं और साम्राज्यवाद के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के कारण कम्युनिज्म का प्रभाव दिन-दिन बढ़ रहा था। मेहनतकश जनता को तो इस ओर आकर्षित होना ही था, दुनिया-भर के लेखक, विचारक और बुद्धिजीवी इससे बड़ी संख्या में प्रभावित हो रहे थे। जर्मनी, इटली और जापान में फासिस्ट शक्तियों के सिर उठाने से भी कम्युनिस्ट विचारधारा को बल मिला था। सोवियत रूस की रहनुमाई में साम्राज्यवाद विरोधी क्रांतिकारी शक्तियों के विश्व मोर्चे की शक्ति और लोकप्रियता बढ़ रही थी, इससे भी कम्युनिस्ट पार्टी का

असर बढ़ा।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी 1934 में संगठित हुई। इसका सदस्य बनने के लिए साथ ही कांग्रेस का सदस्य बनना भी एक लाजिमी शर्त थी। इसका मतलब यह हुआ कि यह पार्टी कांग्रेस ही का एक अंग थी। इसका घोषित उद्देश्य तो वर्तमान व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना और समाजवाद कायम करना था; पर उसके दोहरे चरित्र के कारण मजदूर आंदोलन की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती थी और उस पर कांग्रेस नेतृत्व का नियंत्रण और अनुशासन कायम था और उस पर कांग्रेस ही की तरह खुद इस पार्टी में शुरू ही से वाम-पक्षी और दक्षिण-पक्षी दो ग्रुप बन गये थे। वाम-पक्षी ग्रुप कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर वर्ग की शक्तियों के साथ सहयोग का समर्थक था, जबकि दक्षिण-पक्षी ग्रुप कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति घोर शत्रुता रखता था और मजदूर वर्ग के स्वतंत्र संघर्षों के विरुद्ध था।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के दक्षिण-पक्ष के बड़े नेता जयप्रकाश नारायण थे। उस समय वह कामरेड जयप्रकाश के नाम से मशहूर थे और गांधी ने उन्हें 'हिन्दुस्तान के लेनिन' की संज्ञा दी थी।

सरकारी दमन के बावजूद कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी हालत में भी सक्रिय रही और उसके सदस्य दूसरे जन-संगठनों और विशेषकर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के जरिये काम करते रहे। लेकिन जयप्रकाश नारायण ने पार्टी के महासचिव की हैसियत से एक विज्ञप्ति निकाली कि कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट हमदर्दों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी से निकाल दिया जाय क्योंकि वे गांधी के अहिंसा के सिद्धांत को नहीं मानते और वे बहुत ही गैर-जिम्मेदार लोग हैं। इससे खुद कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के लड़ाकू सदस्य अवैध कम्युनिस्ट पार्टी में जा मिले।

यह था 1934 के बाद उभरते हुए वाम-पक्ष का चित्र। उसकी न विचारधारा स्पष्ट थी, न वह देश की वस्तुगत स्थिति से भली-भांति अवगत था और न आपस की एकता थी। इस पर उसे कांग्रेस के चालाक और अनुभवी बुर्जुआ नेतृत्व का मुकाबला करना था, जो न सिर्फ अपने आप में मजबूत और संगठित था बल्कि विरोधी पक्ष में भ्रम फैलाने और फूट डालने में भी समर्थ था।

कांग्रेस का अगला अधिवेशन दिसंबर 1936 में फैजपुर में हुआ और जवाहरलाल ही को दूसरी बार भी अध्यक्ष बनाया गया। इस समय कांग्रेस के सामने मुख्य काम था आगामी वर्ष के चुनाव अभियान को सफल बनाना।

यह चुनाव इंडिया एक्ट 1935 के अनुसार लड़ा जा रहा था, जिसमें सिर्फ 12 प्रतिशत लोगों को वोट का अधिकार दिया गया था। लेकिन कांग्रेस का उद्देश्य सिर्फ चुनाव लड़ना ही नहीं था बल्कि जनता से संपर्क स्थापित करके उसमें फिर से अपना असर कायम करना भी था। इसके लिए जवाहरलाल ने अनथक काम किया। दिल-दिमाग और जिस्म की सारी शक्तियां इसमें लगा दीं। उन्होंने तिब्बत की सीमा

से लेकर बलूचिस्तान की सीमा तक हजारों मील का सफर किया और करोड़ों इंसानों के सामने भाषण दिया और ये भाषण अखबारों में छपकर इससे भी कहीं अधिक लोगों तक पहुंचे। उन्होंने चुनाव को विशेष महत्त्व नहीं दिया, महत्त्व दिया जनता से संपर्क बढ़ाने को। खुद लिखा है :

"महत्त्व था हमारे मकसद का, उस संगठन का, जिसने इस मकसद को अपनाया था और उस कौम का, जिसकी आजादी का हमने बीड़ा उठाया था। मैं इस आजादी की व्याख्या करता और बताता कि मुल्क के करोड़ों लोगों पर इसका क्या असर होगा। हम गोरे रंग के मालिकों की जगह पर गेहुंआ रंग के मालिकों को लाकर नहीं बिठाना चाहते थे। हम जनता की सच्ची हुकूमत चाहते थे, ऐसी जो जनता द्वारा और जनता के हक में हो और जिससे हमारी गरीबी और मुसीबतें दूर हो जाएं।"

यों उन्होंने अपने भाषणों द्वारा नई चेतना का तकाजा पूरा किया, इससे जनता में कांग्रेस का और उनका निजी असर भी कायम हुआ और चुनाव में भी भारी सफलता मिली। इसके परिणामस्वरूप जुलाई 1937 में ग्यारह सूबों में से सात में खालिस कांग्रेस और दो में मिले-जुले मंत्रिमंडल बने। सिर्फ बंगाल और पंजाब ही दो सूबे ऐसे रह गये, जिनमें कांग्रेस मंत्रिमंडल नहीं बन पाये।

पद-ग्रहण करने का फार्मूला गांधी ने तैयार किया था, जो कांग्रेस महासमिति के मद्रास अधिवेशन में पास हुआ। वाम-पक्ष ने एक संशोधन द्वारा पद-ग्रहण का विरोध किया। उनका कहना था कि मंत्रिमंडल बनाना साम्राज्यवाद के साथ सहयोग है, ये मंत्रिमंडल सरकार की दमन-मशीनरी का अंग बन जायेंगे और उन्हीं के काम को जन-संघर्ष का बदल समझ लिया जाएगा। उनका संशोधन 135 के मुकाबले 72 वोट से गिर गया।

कांग्रेस मंत्रिमंडल दो साल अर्थात् 1939 का विश्वयुद्ध शुरू होने तक बने रहे। जहां-जहां यह मंत्रिमंडल बने वहां तमाम राजनैतिक कैदी छोड़ दिए गए, प्रेस को अधिक स्वतंत्रता मिली और कुछ संस्थाओं पर से रोक भी हटा ली गई । लेकिन असल समस्या तो मजदूरों-किसानों की थी। इन दो सालों में उनके आंदोलनों ने बड़ा जोर पकड़ा। इन संघर्षों में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने मिल-मालिकों और जमींदारों ही का साथ दिया।

कांग्रेस ताजीराते-हिंद की दफा 144 (चार से अधिक आदमी इकट्ठे होने पर रोक) और 124 (षड्यंत्रकारी प्रचार पर रोक) का हमेशा से विरोध करती आई थी, क्योंकि इनसे नागरिक अधिकारों का दमन होता है। अब कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इनका खुला इस्तेमाल शुरू किया। यहां तक कि "हिंसा का प्रचार" करने वालों को जेल में डालना और उनके खिलाफ पुलिस को इस्तेमाल करना भी 'अहिंसा' के लचकदार सिद्धांत का अंग मान लिया गया।

सचमुच कांग्रेसी मंत्रिमंडल मजदूरों और किसानों के संघर्षों और वाम-पक्षी शक्तियों को कुचलने के लिए सरकार की दमनकारी मशीनरी का अंग बन गये।

उदाहरण के लिए जब बंबई की ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने हड़ताल और ट्रेड यूनियन बनाने के अधिकार को सीमित कर देने वाले घृणित औद्योगिक विवाद अधिनियम (डिसप्यूट बिल) के विरोध में बहुत बड़ी हड़ताल की तो पुलिस ने गोली चलाई, जिसमें बहुत-से मजदूर घायल हुए और एक की मृत्यु हुई।

इन कारणों से कांग्रेस मंत्रिमंडलों के विरुद्ध जनता का रोष बढ़ रहा था और दमन की इन नीतियों के लिए कांग्रेस हाईकमान को जिम्मेदार ठहराया जाता था।

1935 के एक्ट द्वारा ब्रिटिश पार्लामेंट ने, जो विधान पेश किया था, कांग्रेस ने उसे नामंजूर करते हुए कहा था कि हमें सिर्फ वही विधान मंजूर होगा, जिसे देश की जनता के बालिग मत द्वारा चुनी गई विधान परिषद (कांस्टीटुएंट असेम्बली) तैयार करेगी। सुभाष के नेतृत्व में वाम-पक्ष यह मांग करता आ रहा था कि विधान परिषद प्राप्त करने के लिए जन-संघर्ष शुरू किया जाय; पर कांग्रेस हाईकमान इसे टालता आया था।

अब विधान की समस्या पर 1938 के दौरान कांग्रेस नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के साथ व्यक्तिगत रूप से कई बार बातचीत की और यह अफवाह बड़े जोरों से फैली कि आपस में कोई समझौता होने वाला है। इस पर वाम-पक्ष वाले चौंके और उन्होंने कहना शुरू किया कि चाहे बातें बड़ी-बड़ी बघारी जाती हैं दरअसल हाईकमान आत्म-समर्पण करने जा रहा है।

जवाहरलाल की स्थिति बड़ी मुश्किल थी। वह सार्वजनिक भाषणों और वक्तव्यों में वाम-पक्ष की बात कहते थे और कभी-कभी दबी जबान में हाईकमान की नुक्ताचीनी भी कर देते थे। इससे उनके साथी नाराज होते थे। एक बार तो कार्यसमिति बनाने के दो-तीन महीने बाद ही बात यहां तक बढ़ गई कि राजेंद्र प्रसाद, जयरामदास, दौलतराम, वल्लभभाई पटेल, सी. राजगोपालाचारी, जमनालाल बजाज और जे.बी. कृपलानी ने जवाहरलाल को एक सामूहिक त्यागपत्र दे दिया था। उसमें कहा गया था कि तुम जिस समाजवाद का प्रचार करते हो, इसे कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया और हम यह महसूस करते हैं कि कांग्रेस अपनी उसी नीति पर चले, जिस पर वह 1920 से चलती आ रही है।

जवाहरलाल बहुत सटपटाये और फिर जो विवाद उठा वह काफी दिलचस्प है और, 'कुछ पुरानी चिट्ठियां' नाम की पुस्तक में संकलित पत्रों द्वारा जाना जा सकता है। आखिर गांधी ने मामले को निपटाया और उन्होंने जवाहरलाल को लिखा—"वे महसूस करते हैं कि तुम उनके साथ शिष्टता से पेश नहीं आते और समाजवादियों के उपहास और गलत अर्थ लगाने से तुमने उनकी कभी रक्षा नहीं की।" और फिर समझाया, "तुम उनके सर्वसम्मत चुनाव से पदारूढ़ हो, लेकिन अभी तक सत्ता तुम्हारे पास नहीं है। तुम्हें पदारूढ़ करना तुम्हें शीघ्र सत्तारूढ़ करने का प्रयत्न था। और किसी तरह ऐसा न होता। जो हो, मेरे दिमाग में यही बात थी, जब मैंने कांटों के ताज

के लिए तुम्हारा नाम सुझाया था। सिर पर घाव हो जाएं तो भी इसे पहने रहो।"
(पत्र 15 जुलाई, 1936)

जवाहरलाल कांटों का यह ताज पहने रहे और इससे वाकई सत्ता उनके हाथ में आई। लेकिन कितने आश्चर्य की बात है कि इससे कोई चार महीने पहले अर्थात् 22 मार्च, 1936 को संसद सदस्य ऐलेविल्किन्सन ने लंदन से जवाहरलाल के नाम अपने खत में लिखा था :

"काफी लोगों की यह आम भावना है कि आप गांधीजी के आध्यात्मिक पुत्र और उत्तराधिकारी हैं।"

फरवरी 1938 के हरिपुरा अधिवेशन में सुभाष को भी गांधी के आशीर्वाद से अध्यक्ष बनाया गया था। लेकिन 1938 के अंत तक दक्षिण-पक्ष और वाम-पक्ष के आपसी मतभेद ने तीव्र रूप धारण कर लिया था और देश एक बार फिर क्रांतिकारी जन-संघर्ष की ओर बढ़ रहा था, जिसका एक बाहरी कारण यह भी था कि हिटलर और मुसोलिनी की बढ़ती के कारण यूरोप पर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। इस परिस्थिति में कांग्रेस की बागडोर किसी वाम-पक्षी के हाथ में देना समझदारी नहीं थी। इसलिए तय यह पाया कि 1939 के त्रिपुरी अधिवेशन में पट्टाभि सीतारमैया को अध्यक्ष बनाया जाये।

लेकिन सुभाष ने पट्टाभि सीतारमैया का मुकाबला करके गांधी के आशीर्वाद की परंपरा को चुनौती दी और वह वाम-पक्षी राष्ट्रवादियों, समाजवादियों और कम्युनिस्टों के समर्थन से चुनाव जीत गये। जबर्दस्त संघर्ष के बाद सुभाष को 1575 और पट्टाभि को 1376 वोट मिले।

चुनाव के इस परिणाम पर गांधी और उनके समर्थक सटपटाये। गांधी ने तुरंत एक वक्तव्य में अपना विरोध व्यक्त करते हुए कहा कि कांग्रेस में 'बोगस मेंबर' भर्ती किए गए हैं और वह एक भ्रष्ट संस्था बन गई है और आगे कहा कि जो सच्चे कांग्रेसी बहुमत के निर्णय को नहीं मानते, कांग्रेस छोड़ दें।

अब क्या था, कार्यसमिति के पंद्रह सदस्यों में से बारह ने यह कहकर त्यागपत्र दे दिया कि हम सुभाष के मार्ग में बाधा नहीं बनना चाहते। जवाहरलाल ने भी त्यागपत्र दे दिया, लेकिन अपना वक्तव्य अलग से दिया और 'हम कहां हैं?' नाम के पेम्पलेट में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया। यह भी अपनी समाजवादी ख्याति से आम जनता को और वाम-पक्ष को प्रभावित करने का एक ढंग था।

कांग्रेस का त्रिपुरी अधिवेशन मार्च में हुआ। उसमें गोविंद वल्लभ पंत ने दक्षिण-पक्ष की ओर से यह प्रस्ताव रखा कि अध्यक्ष, जो कार्यसमिति संगठित करें, वह गांधी के मशविरा से संगठित की जाये। इस पर बड़ा हंगामा हुआ। हाथा-पाई तक की नौबत आ गई। प्रतिनिधियों ने जवाहरलाल को दो घंटे तक बोलने नहीं दिया। अंत में वाम-पक्ष पराजित हुआ और कांग्रेस का नेतृत्व गांधी को सौंप दिया गया।

सुभाष ने 22 मार्च, 1939 को जवाहरलाल के नाम एक लंबा मार्मिक पत्र लिखा, जो पुस्तक के 28 पृष्ठ पर फैला हुआ है। भारतीय राजनीति के हर एक विद्यार्थी को यह पत्र अवश्य पढ़ लेना चाहिए, हम उसकी यहां सिर्फ चंद पंक्तियां उद्धृत करते हैं :

"शायद तुम्हें याद होगा कि जब हम शांतिनिकेतन में मिले थे तो मैंने सुझाया था कि अगर हमारी कोशिश के बावजूद हम कार्यसमिति के सदस्यों का सहयोग हासिल न कर सके तो हमको कांग्रेस को चलाने की जिम्मेदारी से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। उस समय तुम मुझसे सहमत हुए थे। बाद में, पता नहीं किन कारणों से, तुम मानो बड़ी बहादुरी से दूसरे पक्ष में जा मिले। बेशक, तुम्हें ऐसा करने का प्रत्येक हक हासिल था, किंतु फिर तुम्हारा समाजवाद या वामवाद कहां गया?"

कथनी और करनी के अंतर को स्पष्ट करने के लिए यह बहुत बड़ा सवाल है। इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

15 अगस्त

आखिर देश का विभाजन हुआ। 14 अगस्त 1947 को मुहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान के पहले गवर्नर जनरल और 15 अगस्त को जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तान के पहले प्रधानमंत्री बने।

गांधी की सुधारवादी नीतियों और सौदेवाजी का यह अनिवार्य परिणाम था। जन-संघर्षों को बार-बार टालने के बाद कांग्रेस नेताओं के पास देश की समस्या का और कोई हल नहीं रह गया था। उन्हें यह कड़ुवा घूंट अपनी इच्छा के विरुद्ध पीना पड़ा।

इस कड़ुवे घूंट को—इस समझौते को, बड़े धूम-धड़क्के से आजादी की संज्ञा दी गई। लेकिन आजादी जो मिली, उसे हमने पिछले चालीस वर्ष में अच्छी तरह देख-परख लिया है। उम्मीदें जो बंधाई गई थीं, उन पर ओस पड़ गई और जनता ने जो सपने संजोये थे, वे धूल में मिल गये।

14 और 15 अगस्त की दरम्यानी रात को 12 बजे से कुछ क्षण पहले जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय संसद में घोषणा की थी :

"बहुत बरस हुए हमने भाग्य से, जो वक्त मुकर्रर किया था, वह अब आ गया है, जब हम अपनी प्रतिज्ञा को यदि पूरी तरह नहीं तो भी बहुत हद तक पूरा करेंगे।"

और इस प्रतिज्ञा को यों दोहराया था :

"जब आधी रात का घंटा बजेगा और दुनिया सोती होगी, तब भारत स्वतंत्र होकर नई ज़िंदगी हासिल करेगा। इतिहास में ऐसा क्षण कभी-कभी ही आता है जब हम प्राचीनता से नवीनता की तरफ क़दम उठाते हैं। जब एक ज़माना ख़त्म होकर लम्बे अर्से से दबाई गई राष्ट्र की आत्मा मुखरित होती है। ऐसे गंभीर मौक़े पर हम भारत, भारत की जनता और उनसे भी बढ़कर मानवता की सेवा के लिए सब-कुछ न्यौछावर करने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह भविष्य आराम और विश्राम का नहीं वरन् अनेक बार ली गई प्रतिज्ञाओं और आज ली जाने वाली प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए लगातार कोशिश करने का है। भारत की सेवा का मतलब करोड़ों पीड़ितों की

सेवा है। इसका मतलब है गरीबी, अशिक्षा और अवसर की असमानता का खात्मा। हमारी पीढ़ी के सबसे बड़े आदमी की आकांक्षा थी कि हर आंख का आंसू पोंछ दिया जाय। शायद यह हमारी ताक़त के बाहर हो; लेकिन जब तक आंसू और वेदना रहेगी हमारा काम पूरा नहीं होगा। जिस भारतीय जनता के हम नुमाइंदे हैं, उससे हम अपील करते हैं कि वह हमें विश्वास और भरोसे के साथ इस महान् कार्य में सहयोग दे। यह वक्त ओछी और नुक़सानदेह आलोचना का नहीं है और न दूसरों की बुराई और नुक्ताचीनी का। हमें स्वतंत्र भारत की ऐसी आलीशान इमारत बनाना है, जिसमें भारत के हर बच्चे के रहने की जगह हो।"

कैसे सुंदर लफ्ज़ हैं। पढ़ते जाइये और बोलने वाले को जी भरकर दाद देते जाइये। जवाहरलाल नेहरू और सभी गांधीवादी इसी लफ्फाजी से बहलाते-बहकाते और भारतीय जनता की ही नहीं समूची मानवता की सेवा की डींग हांकते आये हैं। लेकिन पिछले चालीस साल के अर्से में हम देख चुके हैं कि आंसू पुछे नहीं बल्कि लोगों की आंखें आज आंसुओं से ज्यादा तर हैं और वेदना कम होने के बजाय और बढ़ी है, यहां तक कि बर्दाश्त से बाहर हो गई है।

ऐसा क्यों हुआ?

इस सवाल का सही जवाब पाने के लिए 'प्राचीनता से नवीनता की तरफ उठाये गये इस क़दम को'—15 अगस्त के समझौते को समझना होगा, जिसका नाम आज़ादी रखकर हमें धोखा दिया गया। समझना इसलिए जरूरी है कि हम कहीं आइंदा भी सुंदर लफ्फाजी द्वारा ठगे न जायें।

26 जुलाई, 1920 को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में राष्ट्रीय और औपनिवेशिक मामलों के कमीशन की रिपोर्ट में लेनिन ने कहा था :

"...हमें कम्युनिस्ट होने के नाते, उपनिवेशों में बुर्जुआ स्वतंत्रता आंदोलनों का तभी समर्थन करना चाहिए और हम तभी समर्थन करेंगे भी, जब वे वास्तव में क्रांतिकारी हों और उनके प्रतिनिधि क्रांतिकारी भावना से कृषकों और शोषित जनता को प्रशिक्षित करने के हमारे कामों में बाधा न डालें। यदि यह परिस्थिति नहीं पाई जातीं तो इन देशों के कम्युनिस्टों को सुधारवादी बुर्जुआ के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए, जिसके अंतर्गत दूसरी इंटरनेशनल के नायक भी आते हैं। औपनिवेशिक देशों में सुधारवादी पार्टियां पहले ही से मौजूद हैं। कभी-कभी तो उनके प्रतिनिधि अपने को सामाजिक जनवादी और समाजवादी भी कहते हैं।"

उपनिवेशों में बुर्जुआ सुधारवादी आंदोलन साम्राज्यवाद खुद चला देता है ताकि शोषित, पीड़ित जनता को क्रांति के पथ पर चलने से रोका जा सके और सुधारवादी आंदोलन के जरिए अपने ही ढंग के बुर्जुआ नेता तैयार किये जायें।

हमारे देश में भी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इसी नीति को अपनाया। हमने देखा कि नेशनल कांग्रेस खुद अंग्रेजों ने संगठित की थी। बीस साल तक वह नौकरियों

के 'भारतीयकरण' के प्रस्ताव पास करती रही। इसके बाद जब उसने क्रांतिकारी रूप धारण करना शुरू किया और अंग्रेजों ने देखा कि अब बुर्जुआ वर्ग भी सिर्फ प्रस्ताव पास करके संतुष्ट नहीं रह सकता तो उसकी ओर 1909 में सुधारों के नाम पर पहला टुकड़ा फेंका। माडरेटों का एक बड़ा गिरोह बड़ी तेजी से इस टुकड़े की तरफ लपक गया। सर आगा खां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का एक प्रतिनिधिमंडल वायसराय से मिला और कहा कि इस टुकड़े में हमारा भाग मुकर्रर कर दिया जाय वरना यह सारे का सारा हिन्दू खा जायेंगे। हमारे हाथ कुछ नहीं लगेगा।

अंग्रेजों ने मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व का अधिकार दे दिया और राष्ट्रीय आंदोलन में सांप्रदायिक फूट की नींव डाल दी।

युद्ध के बाद 1919 में देश की राजनीति में जब फिर क्रांतिकारी उभार आया तो अंग्रेजों ने फिर दूसरा टुकड़ा सुधारों के नाम पर फेंका। बहुत-से बुर्जुआ कांग्रेसी नेता फिर इसकी ओर लपके। खुद गांधी ने, उन्हें अंग्रेज की नेकनीयती का सबूत मानकर, कांग्रेस को उन्हें सफल बनाने का मशविरा दिया था।

मुसलमानों ने अपना हिस्सा पहले ही अलग बंटवा लिया था, अब पंजाब में सिखों ने मांग की कि इस टुकड़े में हमें भी हमारा हिस्सा अलग बांटकर दे दिया जाय क्योंकि हिन्दू और मुसलमान दोनों बड़े भाइयों से हमारी पट्टी नहीं बैठती। अंग्रेजों ने सिखों का हिस्सा भी अलग कर दिया। हमारी राष्ट्रीयता बराबर खंडित होती रही।

1930-34 के लंबे संघर्ष के बाद अंग्रेज ने तीसरा बड़ा टुकड़ा फेंका। इसके लिए कांग्रेस ने रद्द और कबूल की दोहरी नीति अपनाई और धीरे-धीरे मंत्रिमंडल बनाकर कुर्सियों पर जा बैठी। इन मंत्रिमंडल के कारनामों की हम एक झलक देख चुके हैं। लेकिन साम्राज्यवादी औपनिवेशिक ढांचे में पद ग्रहण करने का एक दूसरा पहलू भी है। जवाहरलाल के अपने शब्दों में, "फिरकावार सवाल पर उसका बहुत बुरा असर पड़ा और उसकी वजह से बहुत-से मुसलमानों में शिकायत और अलहदगी का सवाल पैदा हुआ। इसमें बहुत-से प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने फायदा उठाया और उन्होंने कुछ खास गिरोहों में अपनी स्थिति मजबूत कर ली।" (हिन्दुस्तान की कहानी)

मुस्लिम लीग कुछेक सालों ही में इतना जोर पकड़ गई कि उसने 1940 में बाकायदा प्रस्ताव पास करके पाकिस्तान की मांग पेश कर दी। भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से यह मांग एकदम अव्यावहारिक और हास्यास्पद जान पड़ती थी। गांधीजी ने कहा था कि अगर पाकिस्तान बना तो वह मेरी लाश पर बनेगा। सत्यवादी हरिश्चंद्र के इस आधुनिक अवतार ने तो यह भी कहा था कि 31 दिसंबर, 1921 तक स्वराज्य न मिला तो आप मुझे जीवित नहीं पायेंगे। लेकिन कहने-भर से क्या होता है? आखिर पाकिस्तान बना और गांधी के आशीर्वाद से कांग्रेस ने उसे स्वीकार किया।

दरअसल यह आज़ादी नहीं 1935 के एक्ट के बाद यह सुधारों की चौथी और

आखिरी किश्त थी, जो 1946 के क्रांतिकारी उभार के दबाव तथा युद्ध से अपनी कमर टूट जाने के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद को देनी पड़ी और जॉन की जगह गोविंद को गद्दी पर बिठा दिया गया।

हम अगर जॉन की जगह गोविंद को गद्दी पर बिठाने की प्रक्रिया को भी देख लें तो स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

इण्डियन सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में यूरोपियन ग्रुप के नेता पी.जी. ग्रिफथ्स ने 24 जून, 1947 को अपने भाषण में कहा था : "बहुत-से लोगों का मत है कि ब्रिटिश कैबिनेट मिशन के आने से पहले हिन्दुस्तान क्रांति के कगार पर खड़ा था। कैबिनेट मिशन ने अगर इस खतरे का अंत नहीं किया तो इसे टाल अवश्य दिया है।"

1946 का क्रांतिकारी उभार न सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिए बल्कि हमारे अपने देश के इज़ारेदार पूंजीपतियों और सामंतवादी तत्त्वों के लिए भी जबर्दस्त खतरा था और उसे टालने में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं ने जनता की आंखों में धूल झोंकी और ब्रिटिश सरकार को पूरा सहयोग दिया।

अब इसी बात के दूसरे पहलू यानी युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार की अपनी स्थिति क्या थी, उसे भी देखिए। 5 मार्च, 1947 को स्टेफर्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में कहा था कि ब्रिटिश सरकार के समक्ष दो ही विकल्प हैं : (1) सेना की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि करके हिन्दुस्तान में अपना प्रत्यक्ष शासन बनाये रखे अथवा (2) 1947 के निर्णय के अनुसार राजनीतिक सत्ता हस्तांतरित कर दे। फिर उसने स्वीकार किया कि ब्रिटिश सरकार सेना के बल से प्रत्यक्ष शासन बनाये रखने में समर्थ नहीं है। अतएव अंग्रेज ने देश का बंटवारा करके दोनों तरफ बड़े पूंजीपतियों और सामंतवादी तत्त्वों के हाथ में राजनीतिक सत्ता सौंप दी अर्थात् जॉन की जगह गोविंद को गद्दी पर बिठा दिया। प्रशासन का स्वरूप वही रहा, ये दोनों शोषक वर्ग जन-क्रांति को खून में डुबोने और साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करने के लिए उसके छोटे हिस्सेदार बन गये।

1969 गांधी की जन्म-शताब्दी का वर्ष था, जिसकी तैयारी पिछले साल ही शुरू हो गई थी। इस सिलसिले में डॉ. राधाकृष्ण ने 'महात्मा गांधी—100 वर्ष' नाम की एक पुस्तक सम्पादित की है, पुस्तक में एक लेख ब्रिटिश प्रधानमंत्री हेरल्ड विल्सन का भी है। उसने लिखा है :

"महात्मा गांधी द्वारा अहिंसा पर जोर देने के कारण दोनों पक्ष की सहमति से भारत को आजादी मिली। न किसी में विजय की भावना थी और न पराजय की। ब्रिटेन भी इस निर्णय से संतुष्ट था और राष्ट्रमंडल में एक नए बड़े सदस्य का स्वागत करने को उत्सुक था। यह सब भारत के राष्ट्रपिता के कारण हुआ, जिसने 20 वर्ष पहले पहली बार हमारे देश की यात्रा की थी और हमें भली प्रकार समझा था।

भारत-ब्रिटेन मैत्री की जो सुदृढ़ नींव उन्होंने डाली है, उसके लिए हम अपने देश में उनके आभारी और ऋणी हैं।"

ब्रिटिश पत्रकार तथा लेखक एडवर्ड टामसन से जवाहरलाल नेहरू का घनिष्ठ संबंध रहा है। उन्होंने 2 जनवरी, 1937 को 'न्यूज क्रानिकल' में नेहरू से अपनी एक भेंट प्रकाशित की थी, जो 1935 के इंडिया एक्ट के बारे में थी। लेख यों शुरू होता है :

"नेहरू के चरित्र के मेरे अध्ययन से मुझे लगा कि उनकी रुचि मुख्य रूप से हिन्दुस्तान को 'साम्राज्य' से स्वतंत्र कराने में नहीं है।

अगर उन्हें यह विश्वास हो जाय कि साम्राज्य वास्तव में बराबरी के राष्ट्रों का एक परिवार है, जिसके अलग-अलग सदस्यों को अपने विचारों को रखने का पूरा अधिकार हो, तो वह इस बात पर राजी हो जाएंगे कि हिन्दुस्तान इन राज्यों में से एक रहे।" (कुछ पुरानी चिट्ठियां)

जिस तरह संसदीय प्रणाली की तीसरी किश्त के रूप में ब्रिटिश पार्लामेंट ने 1935 का इंडिया एक्ट पास किया और उसमें अपने स्थापित स्वार्थों को सुरक्षित रखा था उसी तरह 1947 की फरवरी घोषणा से बदनाम 'माउंट बेटन समझौते' का जन्म हुआ, जिसके द्वारा भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के परिवार का, राष्ट्रमंडल का एक सदस्य बना दिया गया। इस घोषणा में यह चेतावनी दी गई थी कि भारतीय विधान परिषद् द्वारा जो विधान तैयार किया जायगा ब्रिटेन को वह तभी स्वीकार होगा, जब वह कैबिनेट मिशन योजना में दर्ज प्रस्तावों के अनुसार बनाया जायेगा।"

अतएव इस हिदायत पर अमल किया गया और 26 जनवरी, 1950 को विधान परिषद् द्वारा हमें जो विधान दिया गया वह ब्रिटिश पार्लामेंट द्वारा पास किये गए 1935 के इंडिया एक्ट ही का वृहद् रूप है। राष्ट्रपति द्वारा देश को 'गणतंत्र' घोषित किये जाने के बाद भी 'आजाद' हिन्दुस्तान ब्रिटिश ताज का वफादार है और हम जैसे 1947 से पहले ब्रिटिश इम्पीरियल मैजिस्टी की रैयत थे, वैसे ही अब भी रैयत हैं।

इस विधान द्वारा, जो 'स्वतंत्र' गणतंत्र राज्य अस्तित्व में आया है, वह देश में लगी ब्रिटिश या कोई भी विदेशी पूंजी जब्त करने में असमर्थ है। संविधान के बुनियादी अधिकारों में एक धारा है, जो उचित मुआवजा दिये बिना इस जब्ती की मनाही करती है। यह धारा और बहुत-सी धाराओं की तरह 1935 के इंडिया एक्ट से ली गई है।

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 17 फरवरी, 1948 को अर्थात् संविधान बनने से दो साल पहले ही घोषणा की थी, "आर्थिक ढांचे में कोई अकस्मात परिवर्तन नहीं होगा। जहां तक संभव हो सकेगा वर्तमान उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं होगा" अप्रैल में रियूटर ने अपने विश्वस्त-सूत्र से समाचार दिया, "भारत सरकार की औद्योगिक

तथा आर्थिक नीति ने वर्तमान उद्योगों के बड़े पैमाने के राष्ट्रीयकरण को आइंदा दस साल के लिए रद्द कर दिया है।" पांच दिन बाद, जो नीति प्रकाशित हुई, उसने इस समाचार का समर्थन किया।

दस साल क्या चालीस साल हो गये, आज तक कोई ऐसा क़दम नहीं उठाया गया और न आगे उठाये जाने की संभावना है।

1847 में कम्युनिस्ट लीग की दूसरी बैठक में मार्क्स ने राज्य के बारे में अपना थीसिस पेश करते हुए कहा था, "राज्य न तो वर्ग-समाज को नियंत्रित करता है और न उसकी विशिष्टताओं को निर्धारित करता है बल्कि यह वर्ग-समाज है, जो राज्य को नियंत्रित और उसकी विशिष्टताओं को निर्धारित करता है। इसलिए राजनीतिक विकास के इतिहास की समीक्षा आर्थिक विकास के प्रकाश में होनी चाहिए न कि इसके विपरीत।"

1947 के इस समझौते से हमारे समाज के वर्ग संबंधों में या आर्थिक ढांचे में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया, इसलिए राज्य का स्वरूप भी वही रहा, जो इससे पहले था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा संगठित घृणित औपनिवेशिक दमनकारी सरकारी मशीनरी भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। इसकी जो विशिष्टताएं हैं, उन पर जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' के 'ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा' परिच्छेद में यों प्रकाश डाला है :

"हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने अपने शासन का आधार पुलिस-राज्य की कल्पना पर रखा है। शासन का काम तो सिर्फ सरकार की रक्षा करना था और बाकी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का संबंध फौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और कर्जे के ब्याज से था। नागरिकों की आर्थिक जरूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर कुर्बान कर दी जाती थीं।" और "उसकी कर-प्रणाली अत्यंत प्रगति-विरोधी थी, जिसके द्वारा अधिक आमदनी वालों की बनिस्बत कम आमदनी वालों से अनुपात में अधिक कर वसूल किया जाता था और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह करीब-करीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।"

यह निरंकुश शासन स्थायी सेनाओं और इंतजामी महकमों पर निर्भर था। सिविल सर्विस, जो इन सेनाओं और महकमों का विशेष अंग थी, उसके बारे में जवाहरलाल ने लिखा है :

"सिविल सर्विस की एक खास शोहरत थी, जिसे खुद उसने फैला रखा था, यानी यह कि वह बहुत कार्य-कुशल है। लेकिन यह बात साफ हो गई कि उस संकरे दायरे के अलावा, जिसके लिए वह भी अभ्यस्त थी, वह बेबस और निकम्मी थी। लोकतंत्री ढंग से काम करने की उसको शिक्षा नहीं मिली थी और उसको जनता का सहयोग और उसकी सद्भावनाएं नहीं मिल सकती थीं और साथ ही उसे जनता से

डर भी था और नफरत भी थी। सामाजिक प्रगति की तीव्रगामी बड़ी योजनाओं का उसको कोई अंदाज नहीं था और वह अपनी कल्पनाहीनता और अपने साहबी ढंग से उनमें सिर्फ अड़चन ही डाल सकती थी।" (हिन्दुस्तान की कहानी)

जवाहरलाल ने यह सब उस अनुभव के आधार पर लिखा है, जो 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल बन जाने से हासिल हुआ था। लेकिन सवाल यह है कि क्या 15 अगस्त, 1947 के बाद शासन-प्रणाली में कोई अंतर आया? क्या अब भी रामराज्य के नाम पर पुलिस-राज्य स्थापित नहीं है? क्या अब भी सिविल सर्विस उसकी धुरी नहीं है? क्या उसे अंग्रेजों के चले जाने मात्र ही से लोकतंत्री ढंग की शिक्षा मिल गई? क्या इस सिविल सर्विस के रहते समाजवाद के निर्माण की बात करना निरा ढोंग नहीं है? क्या सार्वजनिक औद्योगिक क्षेत्र का, पंचवर्षीय योजनाओं का और डैमों आदि के निर्माण का सारा इंतजाम इसी सिविल सर्विस के हाथ में नहीं है? उसके रहते नौकरशाही, भ्रष्टाचार और असफलता की शिकायत क्यों?

यह थी शासन-प्रणाली और सिविल सर्विस जो कांग्रेस शासकों को ब्रिटिश साम्राज्य से विरासत में मिली। अब खुद कांग्रेसी नेताओं और मंत्रियों के आचरण पर भी एक दृष्टि डाल लीजिए।

1924 में स्वराज्य पार्टी ने चुनाव जीते तो मोतीलाल नेहरू के कड़े अनुशासन और गरजने-चिल्लाने के बावजूद बहुत-से कांग्रेसियों ने पदों के लालच में दल बदलकर ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया था।

1937 में कांग्रेस ने प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाये तो बड़े जोर-शोर से प्रचार किया गया कि जनता पर प्रशासन का बोझ कम करने के लिए कांग्रेस मंत्री आदर्श उदाहरण बनेंगे और वे सिर्फ पांच सौ रुपये मासिक वेतन में गुजारा करेंगे। इस संबंध में एडवर्ड टामसन ने 2 जनवरी, 1938 को जवाहरलाल के नाम अपने खत में लिखा था :

"मुझे यह पढ़कर बेहद खुशी हुई थी और उत्साह मिला था कि कांग्रेसी मंत्री सिर्फ पांच सौ रुपया मासिक वेतन ले रहे हैं और—यद्यपि जीवन में अनेक भ्रम होते हैं, मुझे सुनकर बड़ा दुःख पहुंचा कि मंत्रियों का यह त्याग अधिकतर मिथ्या है, क्योंकि बाकी का वेतन वे 'भत्तों' के रूप में ले लेते हैं। अगर यह सच है तो कांग्रेस को इससे इतना बड़ा नुकसान पहुंचेगा, जितना कि किसी भी सरकार की कार्रवाई से नहीं पहुंच सकता।..."

इन मंत्रिमंडलों का जो सामूहिक वर्ग-चरित्र था, उसके बारे में पहले लिखा जा चुका है। 25 नवंबर, 1937 को गोविंद वल्लभ पंत के नाम लिखे जवाहरलाल नेहरू के खत की ये पंक्तियां भी देखिए :

"मैं आज आसाम के लिए रवाना हो रहा हूं और दिसंबर के मध्य से पहले लौटने की संभावना नहीं है। जाने से पहले आपको लिखना और बताना चाहता हूं कि जहां तक कांग्रेस मंत्रिमंडलों का संबंध है, सारे हिन्दुस्तान में घटनाएं जिस ढंग

से हो रही हैं, उससे मुझे बड़ी तकलीफ हुई है।...यदि मैं पारिभाषिक भाषा में कहूं तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों की वृत्ति क्रांति विरोधी ही रही है। अलबत्ता यह जानबूझकर नहीं किया जा रहा है, लेकिन जब चुनाव करना पड़ता है तो झुकाव इस तरफ को है। इसके अलावा आम रवैया जड़ है। हम जड़ नहीं बन सकते, क्योंकि इसका मतलब यह हो जाता है कि हम केवल पिछली सरकारों की परंपरा को छोटे-छोटे फर्क के साथ निभा रहे हैं।..."

जवाहरलाल ने अपने और गांधी के बारे में लिखा था :

"मैं हिंसा को कतई पसंद नहीं करता हूं, लेकिन फिर भी मैं खुद हिंसा से भरा हुआ हूं और जान में या अनजान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूं और गांधीजी के सूक्ष्म दवाव से अधिक बड़ा दवाव और क्या हो सकता है, जिसके फलस्वरूप उनके कितने अनन्य भक्तों और साथियों के दिमाग कुंठित हो गये हैं और वे स्वतंत्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहे।"

(मेरी कहानी)

संसदवाद और गांधीवाद ने देश के ऐसे नेता, ऐसे शासक तैयार किये हैं, जिनका त्याग मिथ्या है, जो हिंसा से भरे हुए हैं, जिनकी करनी और कथनी में अंतर है, जिनके दिमाग कुंठित हैं और जो सिविल सर्विस की तरह एक बंधी-टिकी लीक से इधर-उधर कदम रखने की बात सोच ही नहीं सकते।

जवाहरलाल 15 अगस्त, 1947 से 27 मई, 1664 में अपनी मृत्यु तक देश के प्रधानमंत्री रहे। उनकी तानाशाही की शिकायतें तो बहुत सुनने में आई, पर उनकी ईमानदारी पर कभी किसी ने शक नहीं किया। वह वाकई बड़े ईमानदार थे; लेकिन हमें यह नहीं भूलना कि वे किस वर्ग के प्रति ईमानदार थे। अगर गांधीवाद ने अथवा अंधी श्रद्धा के सूक्ष्म दबाव ने दिमाग को कुंठित नहीं कर दिया है तो सोचिए कि आजादी के नाम पर औपनिवेशिक शासन-प्रणाली को स्वीकार करना कहां की ईमानदारी थी?

भ्रष्टाचार और जन-विरोध के बहुत-से सूक्ष्म रूप होते हैं, जो छोटी-छोटी घटनाओं का विश्लेषण कर लेने से सहज में समझे जा सकते हैं। जवाहरलाल कांग्रेस को और गांधी को क्रांतिकारी सिद्ध करने के लिए हमेशा माडरेटों पर बरसा करते थे। एक बार उनकी सरकारपरस्ती की निंदा करते हुए लिखा था :

"श्री शास्त्री (श्रीनिवास शास्त्री) राजदूत बन गये और सर तेजबहादुर सप्रू ने 1923 में लंदन में होने वाली इम्पीरियल कांफ्रेंस में बड़े गर्व के साथ कहा था कि मैं अभिमान के साथ कह सकता हूं कि वह मेरा ही देश है, जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए हैं।" (मेरी कहानी)

प्रधानमंत्री बनने पर जवाहरलाल नेहरू ने इन्हीं सर तेजबहादुर सप्रू के स्मारक के तौर पर नई दिल्ली में सप्रू हाऊस का निर्माण किया। क्यों किया? अगर इसे उदारता

समझा जाये तो यह उदारता उस व्यक्ति के प्रति थी जिसने देश के शत्रु साम्राज्य की सेवा के लिए जीवन अर्पित किया। क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि जवाहरलाल नेहरू किस हैसियत में प्रधानमंत्री थे?

जवाहरलाल का कमाल यह था कि उन्होंने अपनी इस हैसियत को जनता की दृष्टि से छिपाये रखा। वह उसे बड़ी-बड़ी बातों और सुंदर शब्दों में बहलाते-बहकाते रहे और समाजवादी समाज के निर्माण और पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा समृद्धि लाने के सब्ज-बाग दिखाते रहे। धर्मनिरपेक्षता और तटस्थता के नारे तले राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद की सेवा करते और जनांदोलनों को खून में डुबोते रहे और इसके बावजूद देशभक्त और समाजवादी बने रहे।

धोखा देने की अपनी इस कला के कारण ही, जिसे नेहरू केम्ब्रिज से सीखकर आये थे, उन्हें गांधी का लाड़ प्राप्त था और उन सब राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का लाड़ प्राप्त था, गांधी अपने सत्य और अहिंसा द्वारा जिनके स्थापित स्वार्थों की रक्षा करता था। यह लाड़ इतना अधिक था कि नेहरू अपने बुढ़ापे में भी जवान महसूस करते रहे और इस लाड़ के पीछे, जो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठित प्रचार था, उसने उन्हें समूचे राष्ट्र के लिए उसी तरह 'चाचा नेहरू' बना दिया, जिस तरह गांधी को 'राष्ट्रपिता' बनाया था।

कुछ लोगों को यह शिकायत रही कि इस अधिक लाड़ ने नेहरू को बिगाड़ दिया है, उन्हें स्वभाव ही से चिढ़चिढ़ा बना दिया है और उनमें तानाशाह बनने की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। यह शिकायत दुरुस्त है; पर इसमें लाड़ के अलावा नीत्शे के दर्शन का भी दखल था। गांधी की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी की हैसियत से अतिमानव का पद विरासत में मिला। प्रधानमंत्री के पद के साथ-साथ वह अब अतिमानव के पद पर भी आसीन हुए और मरते दम तक आसीन रहे। अपनी इस दोहरी हैसियत में वह कांग्रेस के सर्वे-सर्वा थे, अति शक्तिशाली तानाशाह थे। जिसने जरा आंख दिखाई, उसे सुभाष की तरह धूल में मिला दिया। आखिर में हालत यह थी कि उनकी टक्कर का कोई आदमी ही दिखाई नहीं देता था, उनके 'महान' कद के सामने बाकी सब नेता ठिगने और बालिश्तिए दिखाई पड़ने लगे। स्वभावतः सवाल पैदा हुआ "जवाहरलाल के बाद कौन?"

सोवियत रूस में ख्रुश्चेव बुर्जुआ गुट के सत्ता हथिया लेने के बाद अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के साथ-साथ जवाहरलाल को अंतर्राष्ट्रीय संशोधनवाद का भी लाड़-प्यार प्राप्त हो गया। इससे कद और बढ़ा और नेहरू में अहं की प्रवृत्ति और बलिष्ठ हुई।

आखिर यह 'अंह' हिमालय से जा टकराया और चूर-चूर हो गया।

चीन के साथ युद्ध में उन्हें जो आघात पहुंचा वह जानलेवा साबित हुआ।

जिस राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठित प्रचार ने जवाहरलाल नेहरू को 'चाचा नेहरू' बनाया, उसी संगठित प्रचार ने जनता में यह भ्रांति फैलाई कि कम्युनिस्ट चीन

ने मित्र-द्रोह किया और "हिन्दू-चीनी भाई-भाई" का नारा बुलंद करने वाले जवाहरलाल नेहरू की पीठ में छुरा घोंपा। पर हकीकत यह है कि जवाहरलाल नेहरू ने प्रधानमंत्री की अपनी जिस हैसियत को जनता पर अंत समय तक जाहिर नहीं होने दिया, चीन के साथ युद्ध उनकी इसी हैसियत से पैदा हुआ।

याद होगा 1936 में जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाकर यह काम सौंपा गया था कि वह राजेंद्र प्रसाद, वल्लभभाई पटेल, राजगोपालाचारी, आदि प्रतिक्रियावाद के प्रतिनिधि गांधीवादियों की समाजवादियों के हमलों से रक्षा करें। उसी तरह उन्हें प्रधानमंत्री की हैसियत से यह काम सौंपा गया कि वह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद की, जिसके नेता अमरीकी साम्राज्यवाद और रूसी संशोधनवाद हैं, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी शक्तियों से जिनका नेता इस समय कम्युनिस्ट चीन है, रक्षा करें। यह काम जवाहरलाल और उनकी सहायक शक्तियों के बूते से बाहर था। अतएव चीन के साथ युद्ध में, जो पराजय हुई, उससे जवाहरलाल नेहरू को व्यक्तिगत रूप से जो आघात पहुंचा, वह बाद में पक्षाघात बन गया और इसी से 27 मई, 1964 को इस दोहरे चरित्र की लम्बी कहानी का दुखद अंत हुआ।

मौत के बाद

भ्रम पालना और भूलों को दोहराना मौत है। भूलों को सुधारना और ताजादम होकर आगे बढ़ना ज़िंदगी है।

प्रधानमंत्री, उपप्रधानमंत्री और सारे-का-सारा शासक वर्ग बड़े जोर-शोर से यह बात कहता और सार्वजनिक रूप से प्रतिज्ञा धारण करता है कि हमें जवाहरलाल के पद-चिह्नों पर, उनकी नीतियों पर चलते हुए देश को महान् बनाना है।

इसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जनता को भ्रम में रखा जाये। वरना आज देश के सामने जिन विकट समस्याओं का अंबार लगा हुआ है वे हमें जवाहरलाल नेहरू से विरासत में मिली हैं। वे उन्हीं की नीतियों का नतीजा हैं। दरअसल ये नीतियां भी उनकी अपनी नहीं, बल्कि उन राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय शोषक वर्गों की नीतियां हैं, जिनके स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए उन्हें प्रधानमंत्री और 'महान' नेता बनाया गया था।

इन नीतियों के कारण हमारा यह प्राचीन महान देश बौना, भिखारी और मोहताज बना हुआ है। हर तरफ डर, भय और निराशा छाई हुई है। सत्तर करोड़ जनता के इस विशाल देश का दुनिया में जरा भी आदर-सम्मान नहीं है। अंग्रेज साम्राज्यवादियों के पूंजीगत हित तो सुरक्षित रहे ही, अमरीका, संशोधनवादी रूस, पश्चिम जर्मनी और जापान आदि के लिए भी दरवाजे खुल गये हैं कि वे बिड़ले, टाटों के साथ सांझे में रुपया लगायें, कांग्रेस की गेहुंए रंग की सरकार उनकी पूंजी और मुनाफों की रक्षा करेगी। इसी का नाम नवोपनिवेशवाद है, जो साम्राज्य की दासता का आधुनिकतम रूप है। दासता के इस रूप में शोषक वर्गों की देसी सरकार न सिर्फ विदेशी पूंजी और मुनाफे की रक्षा करती है बल्कि इस पूंजी और मुनाफे को बढ़ाने के आदेश को भी उसी तरह मानती है, जिस तरह कर्ज़ से दबा हुआ बेचारा दरिद्र किसान अपनी खून-पसीने से उगाई हुई फसल के दर के बारे में साहूकार के आदेश को मानता है। इसी आदेश से हमारे रुपये का अवमूल्यन हुआ, जिससे विदेशी पूंजी और मुनाफा छूमंतर से बढ़ गया और इधर महंगाई देखते ही देखते आकाश

को छूने लगी।

इन नीतियों से मुट्ठीभर करोड़पति चाहे अरबपति बन गये, पर इनसे आम जनता की तो ग़रीबी ही बढ़ी है और इसकी हालत बद-से-बदतर होती चली जा रही है। वह यह कैसे बर्दाश्त कर लेगी कि देश अब भी इन्हीं नीतियों पर चले?

दूसरे नेहरू के पद-चिह्नों पर चलने की बात यों भी मिथ्या तथा भ्रम फैलाने वाली है कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में नेहरू के अपने कोई पद-चिह्न ही नहीं हैं। उन्होंने बातें चाहे कुछ बनाईं, 'काम-शरीरों' के सपने देखे और आकाश में दूर-दूर तक उड़ते रहे, पर जब धरती पर चलने का सवाल आया तो हमेशा गांधी के पीछे चले। 1917 में उन्होंने गांधी का दामन थामा और अंत तक थामे रहे। प्रधानमंत्री बनने के बाद चाहे उन्होंने खुद हिंसा का प्रयोग बड़ी उदारता से किया; पर देश और दुनिया की सभी छोटी-बड़ी आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने की सीख देते रहे। इसी से मृत्यु के बाद गांधी के साथ राजघाट के पहलू में उनके लिए शांति-घाट का निर्माण किया गया है।

गांधी रामराज्य की, ट्रस्टीशिप की और हृदय-परिवर्तन की, जो बात करते थे, हमने देखा कि जवाहरलाल खुद उसके कायल नहीं थे। जब वह इसे मानते थे या यों कहिए कि जब वह अपने वर्ग-स्वभाव से विवश होकर इसके आगे आत्म-समर्पण करते थे तो उन्हें तर्कशास्त्र के सारे नियमों को ताक़ पर रखकर गांधी में 'अज्ञात तत्त्व' की सृष्टि करनी पड़ती थी। इससे बड़ा भ्रम और क्या हो सकता है?

सत्य, अहिंसा और हृदय-परिवर्तन का गांधीवादी दर्शन निहित स्वार्थों तथा व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा का दर्शन है। इस बात को और उसकी अव्यावहारिकता को भी खुद जवाहरलाल ने स्वीकार किया है। 'मेरी कहानी' के हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग परिच्छेद में वह लिखते हैं :

"अगर इतिहास से कोई बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितों के सामने न तर्क और न नैतिक विचारों ही की चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी हो जायें और अपने विशेषाधिकार छोड़ दें यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते हैं, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नहीं करते। इसलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए राजी करने की जितनी कोशिशें अब तक की गईं, वे हमेशा नाकामयाब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह दिखाई नहीं देती कि वे भविष्य में कामयाब हो जायेंगी।..."

फिर राइन-होल्ड नाइबर की 'मॉरल मैन एंड इमॉरल सोसायटी' पुस्तक के हवाले से आगे लिखा है : "सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नीति या बुद्धि के जाग्रत होने से समाज में न्याय स्थापित नहीं

हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्ति का मुकावला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।''

राइन-होल्ड नाइवर ने ठीक ही लिखा है और इसे जवाहरलाल भी मानते हैं कि सिर्फ वुद्धि के जाग्रत होने से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो जाता, उसके लिए हमेशा शक्ति के साथ संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन जिन लोगों का विवेक विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के स्वार्थ का दास होता है, वे न सिर्फ यह कि शक्ति के मुकाबले शक्ति संघर्ष से खुद दूर रहते हैं, बल्कि किसी-न-किसी मिथ्या दर्शन का सहारा लेकर पीड़ित और शोषित जनता को भी उससे भटकाते और दूर रखते हैं। हम देख चुके हैं कि गांधीवाद भी ऐसा ही क्रांतिविरोधी मिथ्या दर्शन है। जवाहरलाल ने और देश के अनेक चिंतकों, विचारकों और बुद्धिजीवियों ने इसे अपनाया तो इसका एक कारण यह था कि बहुतों के वर्ग-हित विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों के हितों से जुड़े हुए थे। दूसरे यह शिक्षा-प्रणाली ही दूषित है। पहले यह विदेशी सरकार के लिए दासवृत्ति के स्वार्थरत शिक्षित जुटाती थी, जो मेहनतकश जनता के दमन और शोषण के लिए सहज में सरकार की हिंसक मशीनरी का अंग बन जाते थे और अब दलाल पूंजीपतियों और सामंतों की देशी सरकार के लिए जुटाती है और इसीलिए इस शिक्षा-प्रणाली को बदला नहीं जा रहा। जब समाज में आर्थिक संबंध बदलते हैं तब शासन-प्रणाली बदलती है और तभी शिक्षा-प्रणाली को बदलना संभव होता है, पहले बदलने का सवाल ही पैदा नहीं होता। शिक्षा-प्रणाली का काम ही वर्ग, समाज और शासन की सेवा करना है।

दोहरा चरित्र इस शिक्षा-प्रणाली की विशेष देन है। हमें अपने राष्ट्रीय जीवन में जो आदर्शहीनता, विडंबना और भ्रष्टाचार का असाध्य रोग दिखाई पड़ता है और जिसे हम लाचारी और वेवसी में सामान्य स्थिति मान बैठे हैं, वह इसी डेढ़ सौ वर्ष के कुप्रभाव का परिणाम है। क्रांति ही इस रोग का एकमात्र इलाज थी, जिसे टाला गया।

लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व भी इस स्वार्थांध शिक्षित समुदाय ने हथिया लिया और उसके द्वारा सत्याग्रह का क्रांतिविरोधी मार्ग अपनाया जाना स्वाभाविक ही था। परिणाम यह कि रोग कम होने के बजाय बढ़ता रहा और भयंकर रूप धारण करता गया।

हमारे देश में, जो वड़े-बड़े कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट हैं, वे भी प्रायः इसी शिक्षा-प्रणाली में ढले हुए चट्टे-वट्टे हैं। वे भी चलते दायें और बात बायें की करते हैं। जवाहरलाल ने चूंकि एक कुशल-नट के अभिनय और गर्मा-गर्म लफ्फाजी द्वारा इनके सामूहिक दोहरे चरित्र को कलात्मक रूप प्रदान कर दिया है, इसलिए इन लोगों का जवाहरलाल से तादात्म्य स्थापित हो जाना और उन्हें अपना चरित्रनायक मान लेना स्वाभाविक ही था। जवाहरलाल की मृत्यु पर वड़े ईमानदार और मार्क्सवाद के पंडित

समझे जाने वाले 'कम्युनिस्ट' नेता एम.एस. नंबूदिरिपाद का एक लेख 'जिनसे मुझे समाजवाद का पहला पाठ मिला' प्रकाशित हुआ था, जिसमें वह लिखते हैं :

"मेरी बौद्धिक उन्नति के निर्णायक समय में उसको रूप देने वाले नेता के रूप में पूर्ण आदर और श्रद्धा से ही आज भी मैं उनको देखता हूं।" और "इस अर्थ में हमारा ही एक भाग नष्ट हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।"

(आजकल, नेहरू-स्मृति अंक)

संसदवाद ने इन लोगों के लिए स्वार्थ-सिद्धि का एक और क्षेत्र खोल दिया है। इनमें से बहुतों ने राजनीति ही को अपना कैरियर बना रखा है। लोकसभा, राज्यसभा और विधानसभाओं के सदस्य बनकर समाज में यक-बयक आदर-सम्मान बढ़ जाता है; वेतन, भत्ते और जाने क्या-क्या सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं, यों इनका निजी स्वार्थ विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों के स्वार्थ से जुड़ जाता है और ये मताधिकार ही को देश के दुख-दर्द, गरीबी और मुसीबतों का एकमात्र हल बताते घूमते हैं। 1967 के आम चुनाव ने तो, जिसके बाद संयुक्त सरकारें बनीं, इन सबके स्वार्थ को भली-भांति नंगा कर दिया है। संशोधनवादी तथा नव-संशोधनवादी कम्युनिस्ट तक बड़ी बेशर्मी से 'लोकतंत्र' की रक्षा का नारा लगाते और जनता को भ्रम में डालकर संघर्ष में शक्ति के मुकाबले शक्ति के प्रयोग से दूर ले जाते हैं।

जनता ने अपने लंबे अनुभव से खूब समझ लिया है कि इनका विवेक अपने स्वार्थ का दास है। और धीरे-धीरे इन सबसे जनता का विश्वास उठता चला जा रहा है और वह शक्ति के मुकाबले शक्ति के प्रयोग की राह अपना रही है।

हमें सिर्फ गोरी नौकरशाही को ही नहीं हटाना था, राज्य के इस दमनकारी ढांचे को भी बदलना था और इस सामाजिक व्यवस्था को बदलना था, जिसका आधार जाति-पांति है, जिसमें हर मेहनतकश अछूत है, जिसके रहते धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता की बात करना बेईमानी है, देश के उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखना बेमानी है और इसके रहते सत्य और अहिंसा की बात करना निरी विडंबना है। इसने तो मिथ्याचरण तथा क्रूरता को धार्मिक पवित्रता का रूप दे रखा है। इसे ध्वंस करने के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को डायनामेट बनना चाहिए था, मगर बना भी तो बना शांतिपूर्ण सत्याग्रह। परिणाम यह कि हिंसा को अपने भीतर पोषित करने वाली यह सदियों पुरानी वर्ण-व्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी रही। हमने पढ़ा कि पिछले वर्ष आंध्र के एक ज़मींदार ने एक अछूत लड़के को पेड़ से बांधकर जिंदा जला दिया और इस वर्ष मई के महीने में राजस्थान के उदयपुर जिले में एक तालाब के निर्माण अवसर पर ठेकेदार ने एक 2 वर्षीय मजदूर बालक की बलि चढ़ाई। हमने यह भी पढ़ा कि भूख से सताई एक मां बच्चे को गोद में लेकर कुएं में कूद पड़ी।...

25 दिसंबर, 1968 को खबर आई कि तमिलनाडु के थंजावुर जिला के किला वेनियानी गांव में जमींदार के हथियारबंद आदमियों ने खेत मजदूरों पर हमला किया,

उनकी झोंपड़ियों को आग लगा दी। इनमें एक झोंपड़ी ऐसी थी, जिसमें बीस औरतें, 19 बच्चे और तीन बूढ़े इस हमले से फैले भय के कारण जमा हो गये थे। जमींदार के गुंडों ने झोंपड़ी पर पेट्रोल छिड़ककर दरवाजा बाहर से बंद कर दिया और आग लगा दी। बयालीस के बयालीस आदमी जल मरे!

क्या 15 अगस्त, 1947 को प्राचीनता से इसी नवीनता की ओर कदम उठाया गया था? इन खेत मजदूरों का, जिन पर हमला किया गया, गुनाह सिर्फ यह था कि वे काटी जाने वाली फसल के हर 48 किलो के पीछे 5 किलो के बजाय छह किलो धान मांगते थे। क्या आज के हालात में उनकी यह मांग नाजायज है? क्या इस प्रतिक्रांतिकारी ग्रह-युद्ध का मुकाबला क्रांतिकारी ग्रह-युद्ध ही से संभव नहीं है?

अगले दिन मैं योंही इत्तफाक से 'ग्रामोद्योग पत्रिका' देख रहा था। उसमें एक लेख था—"क्रांति के तीन प्रकाश स्तंभ—मार्क्स, गांधी और विनोबा।" साथ ही मार्क्स, गांधी और विनोवा का एक ऐसा चित्र बना हुआ था, जैसा कोई पंद्रह साल पहले मास्को से छपकर आने वाली कम्युनिज्म की किताबों पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन का बना होता था।

मैं लेख का शीर्षक पढ़कर और यह चित्र देखकर मन-ही-मन मुस्कराता रहा।

सोचिए इससे बड़ा झूठ और क्या हो सकता है कि मार्क्स के साथ गांधी और विनोवा का नाम जोड़ा जाय। इससे अगर कोई बात सिद्ध होती है तो यही कि गांधीवाद को बनाये रखने के लिए अब बुद्धवाद और टालस्टायवाद की बैसाखियां काम नहीं दे रहीं इससे नया आधार चाहिए।

लेनिन के कथनानुसार रूस में टालस्टायवाद 1905 की असफल क्रांति के बाद समाप्त हो गया था क्योंकि हारी हुई फौजों की तरह हारी हुई जनता भी अधिक सीखती है। हमारी जनता ने भी नमक-सत्याग्रह की पराजय से सीखा और गांधीवाद द्वारा लाई गई इस आजादी को देख-परखकर सीखा। आखिर वह कब तक भ्रम पाले रहेगी और कब तक बेकार का बोझ सिर पर उठाये चलेगी?

मार्क्सवाद और गांधीवाद में क्या संबंध? गांधी रामराज्य की—पीछे सोचने की बात कहता है। इसके विपरीत मार्क्स ने शोषित-पीड़ित जनता के लिए सदियों आगे का क्रांतिकारी कार्यक्रम निर्धारित किया और बताया कि पूंजीवादी व्यवस्था का स्थान अनिवार्य रूप से समाजवादी व्यवस्था लेगी। मार्क्स की यह भविष्यवाणी हमारी आंखों के सामने सही सिद्ध होती जा रही है।

बुद्ध, टालस्टाय और गांधी ने अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए भी बल-प्रयोग को पाप वताया। इसके विपरीत मार्क्स ने कहा कि जब पुराने समाज के गर्भ में क्रांति पक चुकी हो तो बल-प्रयोग दाई का काम करता है और यही क्रांति का ऐतिहासिक राजपथ है। 1928 में जब मार्क्सवादी विचार हमारे देश में जड़ पकड़

रहे थे तो जवाहरलाल नेहरू ने 12 दिसंबर को बंबई प्रेसिडेंसी के युवक सम्मेलन में कहा था :

"यदि तुममें से कोई यह विश्वास करता है कि हम सत्ताधारियों से अधिकार मीठे तर्कों और बहसों से ले सकते हैं, तो मैं यही कह सकता हूं कि तुमने न तो इतिहास अच्छी तरह पढ़ा है और न ही भारत की हाल की घटनाओं पर अधिक ध्यान दिया है। हमारे सामने, जो समस्या है, वह है ताकत को लड़कर जीतने की। हम अपनी कौंसिलों और असेंबलियों में देखते हैं कि वहां तर्क और बहस की बाहरी तड़क-भड़क होती है और उस पर भी सरकारी प्रवक्ताओं का बहुधा अपमानजनक और असह्य अंकुश होता है, वहां पर होने वाले बढ़िया भाषण, चाहे वे सख्त-से-सख्त शब्दों से भरपूर हों, सत्ता की कुर्सी पर कोई प्रभाव नहीं डालते। किंतु आप खेतों में और बाजारों में जायें तो आप देखेंगे कि जहां-जहां जनता और सरकार की इच्छाओं में टक्कर है, वहां लोग कितने भी शांत क्यों न हों, सरकार जनता को बहस और दलीलों से नहीं समझाती बल्कि बंदूक के कुंदों, पुलिस के डंडों, गोलियों और कभी-कभी फौजी कानून से दबाती है। ऐसी परिस्थिति में बुनियादी तथ्य बंदूक और डंडा होते हैं। सर्द लोहे और सूखी लकड़ी (हृदयहीनता) के सामने आपके तर्क और मीठी बहस कैसे काम करे? अगर तुम (हृदयहीनों से) जीतना चाहते हो तो तुम्हें दूसरे तरीके इस्तेमाल करने पड़ेंगे, मुकाबले में आने वाली बंदूकों के कुंदों और डंडों से भी बड़े और शक्तिशाली तरीके अपनाने पड़ेंगे।"

लेकिन हम देख चुके हैं कि न कभी कांग्रेसी नेताओं ने यह तरीके इस्तेमाल किये और न डांगेपंथी और नम्बूदिरिपादपंथी वनस्पति कम्युनिस्टों ने इस्तेमाल किये। महज लफ्फाजी से जनता को बहलाते-बहकाते और भ्रम पैदा करते रहे। परिणाम यह है कि आज भी हमारा देश वहीं है जहां 1857 में था, जब हमारे पुरखों ने विदेशी साम्राज्य को पहली बार चुनौती दी थी और आजादी हासिल करने की कोशिश में लोहे-से-लोहा टकराया था। उसके बाद 1859 में अंग्रेजों ने जो राजसत्ता कायम की उसे कांग्रेस या कम्युनिस्टों ने कभी कोई गंभीर चुनौती नहीं दी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमने अभी तक बुर्जुआ क्रांति को भी पूरा नहीं किया। यह क्रांति सशस्त्र वर्ष-संघर्ष द्वारा ही संभव है, कृषिक्रांति इसकी पहली शर्त है और इसकी प्रमुख शक्ति किसान हैं, जिन्हें मजदूर वर्ग के नेतृत्व में यह संघर्ष लड़ना है। यह क्रांति देहात से शुरू होकर शहरों की ओर बढ़ेगी। इस क्रांति का निशाना हैं (1) सामंतवादी तत्त्व जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपना सहयोगी बनाकर कायम रखा। (2) बड़े पूंजीपति जो साम्राज्यवाद के दलाल या पत्तीदार बन गए हैं और (3) अमरीकी साम्राज्यवाद और रूसी सामाजिक साम्राज्यवाद जो हमारे देश को नवोपनिवेश बनाये रखना चाहते हैं।

इस क्रांति के पूरा हो जाने के बाद ही हम समाजवाद की ओर बढ़ पायेंगे

अन्यथा नहीं। हमारी क्रांति की यह पहली और समाजवाद दूसरी मंजिल है।

खुशी की बात है कि भ्रम टूट रहे हैं, जनता ने अपने मित्रों को समझना शुरू कर दिया है और वह संघर्ष में शक्ति का मुकाबला शक्ति से करने के मार्ग पर चल पड़ी है, लेकिन यह संघर्ष सहज नहीं है। हमें आजादी की पहली मंजिल तक पहुंचने ही में वर्षों लगेंगे और बहुत-सी कुर्बानियां देनी होंगी। यह तभी संभव है जब हम भूत और भविष्य में दूर तक झांककर देखें और एक स्वस्थ दृष्टिकोण लेकर चलें। कठिन संघर्ष में सफलता के लिए लंबी योजना और दृढ़ निश्चय आवश्यक है। 'पंचतंत्र' की एक कथा है, जिसमें बदला लेने की भावना से समुद्र को सुखाने की बात आती है तो नर पक्षी मादा पक्षी से कहता है :

"प्रिय! उत्साह ही लक्ष्य की जड़ है। मेरी चोंच लोहे जैसी है और रात-दिन काफी बड़े हैं, फिर समुद्र कैसे नहीं सूखेगा?"

राष्ट्रों के जीवन में दस, बीस, पचास साल बल्कि सदियां भी क्षणों की तरह बीत जाती हैं। पेड़ अपने लिए नहीं आने वाली पीढ़ियों के लिए रोपे जाते हैं।

परिशिष्ट-1

दार्शनिक विचार

एक बार अमरीका के एक प्रकाशक ने अपने एक संग्रह के लिए जवाहरलाल से उनके जीवन-दर्शन पर एक लेख मांगा था। 'हिन्दुस्तान की कहानी' में इस बात की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है : "यह खयाल मुझे अच्छा लगा, लेकिन मुझे पशोपेश हुआ और जितना ही मैंने इस बारे में गौर किया, मेरा पशोपेश बढ़ता गया, आखिरकार मैंने यह मजमून नहीं लिखा।"

सवाल यह पैदा होता है कि जो खयाल अच्छा लगा, उसे आखिर में टाल क्यों दिया? इस पशोपेश का, असमंजस का, जो सोचने पर बढ़ता ही चला गया, कारण क्या था?

अब जब हमने जवाहरलाल के जीवन का अध्ययन कर लिया है, उनके वर्ग-स्वभाव को और राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भूमिका को समझ लिया है तो इस कारण को, उनके मानसिक असमंजस को समझ लेना कुछ भी कठिन नहीं है।

जवाहरलाल का बौद्धिक रुझान विज्ञान तथा भौतिकवाद की ओर था। वह जीवन की समस्याओं पर दूर तक सोचते और अपने चिंतन में तर्क को बहुत गहरा और ऊंचा ले जाते थे। मनन-शक्ति को बढ़ाने और अपने ज्ञान को आधुनिकतम बनाये रखने में वह आध्यात्मिक सुख तथा गर्व महसूस करते थे। इसीलिए उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन किया और उसका उन पर जो प्रभाव पड़ा, उसे यों व्यक्त किया है :

"मार्क्स और लेनिन की रचनाओं के अध्ययन का मुझ पर गहरा असर पड़ा और इसने इतिहास और मौजूदा जमाने के मामलों को एक नई रोशनी में देखने में बड़ी मदद पहुंचाई। इतिहास और समाज के विकास के लंबे सिलसिले में एक मतलब और आपस का रिश्ता जान पड़ा और भविष्य का धुंधलापन कुछ दूर हो गया।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

मगर उन्होंने अपने कर्म को चर्खे से बांध रखा था, जिसका आधार अहिंसा,

सत्याग्रह और हृदय-परिवर्तन का गांधीवादी दर्शन था। अब विचार और कर्म में एक अनिवार्य संबंध है। किसी भी व्यक्ति के लिए दोनों को अलग-अलग रखना संभव नहीं है। अतएव जवाहरलाल को अनेक बार गांधी में अज्ञात के दर्शन होते थे और तर्क को ताक पर रखकर आधिभौतिकवाद से अपने भौतिकवाद की पट्टी बिठाते थे। इसी से निश्चित अनिश्चित में, स्पष्टता अस्पष्टता में परिवर्तित हो जाती थी और गांधीवाद मार्क्सवाद में अर्थात् आदर्शवाद भौतिकवाद में गड्डमड्ड हो जाता था।

अमरीकी प्रकाशन ने अपने संग्रह के लिए, जो लेख मांगा था, उसमें एक निश्चित बात कहना आवश्यक थी। लेकिन जवाहरलाल, जिनके विचार और कर्म में, कथनी और करनी में अंतर था, निश्चित बात कैसे कहते? इसी अनिश्चितता से पशोपेश पैदा हुआ, जो इस बारे में गौर करने से ज्यादा बढ़ता गया और उन्हें एक अच्छा लगने वाला खयाल भी टालना पड़ा।

लेकिन अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' में जवाहरलाल ने अमरीकी प्रकाशन को टाल देने के बावजूद 'जिंदगी के फलसफा' पर विस्तार से विचार किया है। पर जो कुछ लिखा है, वह अत्यंत अस्पष्ट और अनिश्चित है। लगता है कि लेखक किसी बात को रद्द या कबूल करने से जान-बूझकर कतरा रहा है और गोलमोल बात कहकर पाठक को या अपने आप को बहलाना चाहता है। उदाहरण के लिए आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धांत ही को लीजिए। लिखा है :

"असल में मेरी दिलचस्पी इस दुनिया में है, किसी दूसरी दुनिया या आने वाली जिंदगी में नहीं। आत्मा जैसी कोई चीज है भी या नहीं, मैं नहीं जानता। और अगरचे ये सवाल महत्त्व के हैं, फिर भी इनकी मुझे कुछ भी चिंता नहीं। जिस वातावरण में मैं बचपन से पला हूं, उसमें आत्मा और भविष्य की जिंदगी, कार्य-कारण का कर्म सिद्धांत और पुनर्जन्म, ये मान ली गई चीजें हैं। मुझ पर इनका असर पड़ा है, इसलिए एक मानी में इन सिद्धांतों की तरफ मेरे भाव अनुकूलता के हैं। शरीर के भौतिक विनाश के बाद हो सकता है कि आत्मा बनी रहती है, यह बात तर्कपूर्ण जान पड़ती है, अगर हम मूल कारण पर ध्यान दें, तो यह सिद्धांत जाहिरा तौर पर कठिनाइयां भी पैदा करता है। यह मान लिया जाय कि आत्मा है, तो पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी कुछ दलील जान पड़ती है।"

लेकिन कुछ "दलील" मान लेने से भी उनके अपने भीतर का द्वंद्व शांत नहीं होता। इसलिए तर्क जारी रहता है और एक अनिश्चित दिशा में भटक जाता है।

"लेकिन इन सिद्धांतों और मानी हुई बातों में मेरा यकीन कोई मजहबी तौर पर नहीं है। ये तो एक अनजाने प्रदेश के बारे में दिमागी अटकल की बातें हैं, जो मेरी जिंदगी पर असर नहीं डालतीं और आगे चलकर ये सच्ची साबित होती हैं या दद्द कर दी जाती हैं, मेरे लिए यक-सां है।"

इस दिमागी अटकल का असर जवाहरलाल की जिंदगी पर भले न पड़े, पर

दिशा-भ्रांत बुद्धि पर जरूर पड़ता है और वह भूत-प्रेतों के चक्कर में जा फंसती है। लिखा है :

"प्रेत-विद्या जिसके जरिये रूहों के बुलाने का दिखावा होता है और इस किस्म के और धंधे मुझे कुछ वेतुके से जान पड़ते हैं।...मुमकिन है कि इन आध्यात्मिक व्यापारों में कुछ सच्चाई का अंश हो। मैं इससे इंकार नहीं करता।"

मतलब यह कि वह तर्क को ताक पर रखकर यहां भी कर्म के साथ विचार की पट्टी बिठा लेते हैं :

"यह बात मुझे बहुत ही पसंद आती है कि जिंदगी की ओर हमारे रुख का किसी-न-किसी तरह का नैतिक या इखलाकी आधार होना चाहिए। हां, दलील से इसका समर्थन करना मेरे लिए मुश्किल होगा। गांधी सही साधनों पर जो जोर देते हैं, उनकी तरफ मेरा खिंचाव रहा है और मेरा खयाल है कि हमारे सार्वजनिक जीवन के लिए गांधीजी की यह सबसे बड़ी देन है।"

गांधी की इस बड़ी देन को कबूल कर लेने का नतीजा यह निकलता है कि मार्क्स और लेनिन की रचनाओं के अध्ययन से, जो रोशनी मिली थी, वह बुझ जाती है और भविष्य का धुंधलापन फिर गहरा हो जाता है :

"मार्क्सवाद के दार्शनिक दृष्टिकोण में बहुत कुछ ऐसा है, जिसे मैं बगैर दिक्कत के मान सकता हूं—उनमें बताई गई जड़ और चेतन की एकता या अद्वैत को; जड़ की गतिशीलता को विकास-क्रम से या सहसा उपस्थित होने वाले निरंतर परिवर्तन के द्वंद्व को, और क्रिया-प्रतिक्रिया, कारण और उत्पत्ति, विरोध और समन्वय के जरिये होने वाले द्वंद्व को। फिर भी इससे मेरा पूरी तरह इत्मीनान नहीं हुआ। न इसने उन सब बातों का हल पेश किया, जो मेरे दिमाग में थीं और मेरे दिमाग में एक अस्पष्ट आदर्शवादी रास्ता, मानो अनजान में, दिखाई पड़ने लगा। यह रास्ता कुछ वेदांत के मार्ग जैसा था। जड़ और चेतन के भेद ही का यह मसला न था, बल्कि कुछ ऐसी चीज थी, जो दिमाग से परे थी। फिर एक नैतिक पृष्ठभूमि का भी खयाल था। मैंने यह भी समझा कि इखलाक यानी नीति का रास्ता एक बदलता हुआ रास्ता है और यह विकास पाते हुए दिमाग और तरक्की करती हुई सभ्यता पर निर्भर करता है। यह युग की मानसिक अवस्था का नतीजा है। लेकिन इसमें कुछ और बातें थीं; यानी कुछ बुनियादी प्रेरणाएं, जो दोनों के मुकाबले में ज्यादा पायदार थीं। मैं कम्युनिस्टों और औरों के व्यवहार में, उनके कामों और इन बुनियादी प्रेरणाओं या सिद्धांतों के बीच, जो अलगाव देखता था, उसे पसंद नहीं करता था। इसलिए मेरे दिमाग में कुछ ऐसा गड्डमड्ड हो गया कि मैं उसे बुद्धि द्वारा स्पष्ट या हल नहीं कर पाता था।" इसलिए "एक आम प्रवृत्ति यह थी कि इन बुनियादी सवालों पर, जो अपनी पहुंच के बाहर के जान पड़ते हैं, सोचा-विचारा न जाय, बल्कि जिंदगी के उन प्रश्नों पर ध्यान दिया जाय, जो हमारे सामने आते हैं और उनके बारे में क्या और किस तरह करना चाहिए

यह सोचा जाय। आखिर असलियत, जो भी हो, और उसे पूरी तौर पर या कुछ अंशों में हम हासिल कर सकें या नहीं, यह बात तय है कि मनुष्य के ज्ञान को, चाहे वह आत्मगत ही क्यों न हो, बढ़ाने की और इंसानी रहन-सहन और सामाजिक संगठन के सुधारने और उसे आगे बढ़ाने की बड़ी संभावना फिर भी रह जाती है।"

जीवन-दर्शन जिस चीज का नाम है, उसका काम ही बुनियादी सवालों का हल पेश करना है। दर्शन की, भौतिकवादी और आदर्शवादी दोनों पद्धतियां अपने-अपने ढंग से बुनियादी सवालों का हल पेश करती आई हैं। अपने आदिम युग में मनुष्य स्वभावतः भौतिकवादी था। व्यक्तिगत संपत्ति के प्रादुर्भाव ने आदर्शवादी दर्शन को जन्म दिया, क्योंकि आत्मा, परमात्मा और भाग्य की सृष्टि के बिना शोषकों द्वारा दूसरों के श्रम के शोषण का औचित्य सिद्ध करना संभव नहीं था। और इतिहास साक्षी है कि आदर्शवादी विचारकों ने शोषण की हर अवस्था को—चाहे सामंती हो चाहे पूंजीवादी, स्थाई, निरपेक्ष और पवित्र बताकर यथास्थिति बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया है और परिवर्तन के भय से भविष्य में झांकने से इनकार किया। अतएव जब जवाहरलाल नेहरू बुनियादी सवालों को पहुंच से बाहर बताकर जिंदगी के सामने आने वाले प्रश्नों पर ही ध्यान देने की बात कहते हैं तो उनमें इसी परिवर्तन के भय से भविष्य में झांकने की, हकीकत से आंख मिलाने की जुर्रत नहीं रहती और वह अपने वैज्ञानिक चिंतन को तिलांजलि देकर गांधीवाद से समझौता कर लेते हैं। गांधी भी तो यही कहता है कि "मैं सिर्फ वर्तमान की बात सोचता हूं, भविष्य की चिंता नहीं करता।" हालांकि उन्हें गांधी द्वारा दरिद्रता का गौरव बखान करना और यह कहना कि "नारायण खासकर गरीबों का नारायण है, गरीब उसके प्यारे हैं।" पसंद नहीं था और वह गांधी से इस बारे में भी सहमत नहीं थे कि समाज में गरीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे। लिखा है :

"जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने का मौका मिला, तभी वह इस बात पर जोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफी पुराना है, हिन्दुस्तान में, मध्यकालीन यूरोप में भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो इस बात को बिलकुल नहीं समझ सका हूं कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है या यह कैसे कल्पना कर लेता है कि इसी से समाज की समस्या हल की जायेगी।"

(मेरी कहानी)

गांधी पुनरुत्थानवादी था और उसका आदर्शवाद मध्यकालीन सामंती दर्शन था। इसके विपरीत जवाहरलाल के वैज्ञानिक चिंतन ने, मार्क्स और लेनिन की रचनाओं के अध्ययन ने, उनके मस्तिष्क में जगत का एक ऐसा पार्थिव चरित्र बना दिया था जो निरंतर विकासशील और परिवर्तनशील था। इससे उनकी जो समझ बनी थी वह भविष्य में झांकने, आगे बढ़ने और समस्याओं के हल के लिए नए सत्यों की खोज

लगाने की कांक्षा भी उत्पन्न करती थी। "हम वाह्य भौतिक यथार्थ के निरीक्षण द्वारा कोशिश कर सकते हैं और प्रयोग तथा अभ्यास, परीक्षणों तथा गलतियों द्वारा अधिकाधिक ज्ञान और सत्य की ओर मार्ग टटोलते हुए वढ़ सकते हैं।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

इसी चिंतन के आधार पर यह भी लिखा है कि दुनिया को समझने और मुख्य समस्याओं के समाधान के लिए "चीजों को निकट से देखने की, वास्तविक तथ्यों और वैज्ञानिक आधार पर सावधानीपूर्वक निकाले गये निष्कर्षों की आवश्यकता है।"

(भारत की विदेश नीति, भाषणों का संग्रह)

लेकिन ट्रेजडी यह है कि हिन्दुस्तान का सामंतवाद और पूंजीवाद जुड़वें भाई हैं और सामाजिक क्रांति के भय से दोनों ही व्यावहारिक रूप से साथ-साथ रहने पर मजबूर हैं। राष्ट्रीय आंदोलन में गांधी का नेतृत्व इसी मजबूरी का नतीजा था। जवाहरलाल के चिंतन में यह जो अंतर्विरोध है, जबर्दस्त असंगति है, वह भी इसी का नतीजा है। दार्शनिक भाषा में इसे व्यवहार के आगे विचार का आत्मसमर्पण कहना उपयुक्त होगा। ऐसा होना कोई अचरज की बात नहीं है, क्योंकि जिंदगी में प्रधानता विचार को नहीं व्यवहार को प्राप्त है।

गांधीवाद कांग्रेस का आधिकारिक दर्शन है, जो उसने 1921 में गांधी के नेता बनने पर अपनाया और उसकी मृत्यु के बाद भी अब तक अपनाये हुए है। जवाहरलाल नेहरू ने चौदह-पंद्रह साल तक प्रधानमंत्री रहने के बाद 'ब्लिटज' के संपादक करंजिया को एक साक्षात्कार में कहा था : "जो नीति दर्शन हम लागू करने की कोशिश कर रहे हैं, वे हमें गांधीजी द्वारा बताई गई नीतियां और दर्शन है।"

(द माइंड ऑफ मिस्टर नेहरू)

लेकिन यह स्वीकार करते हुए कि विज्ञान जीवन में क्रांति ला देता है और समाज की प्रगति के लिए नई संभावनाओं के द्वार खोल देता है, जवाहरलाल ने यह भी लिखा था : "हमें जीवन का सामना ऐसे रुझान और दृष्टिकोण के साथ करना चाहिए, जिसकी व्यापक परिधि में अतीत तथा वर्तमान अपनी समस्त ऊंचाइयों और गहराइयों के साथ मौजूद रहता है और तभी हम सौम्य भाव से भविष्य देख सकेंगे।"

समाज के विकास में निर्णायक शक्ति है, मनुष्य का श्रम—उसकी उत्पादन शक्ति। जैसे-जैसे इतिहास-क्रम में उत्पादन शक्तियां विकसित हुई हैं, भौतिकवादी दर्शन भी स्वतः विकसित हुआ है। इस विकास को रोकना शासक और शोपक वर्ग के बस में नहीं था, वल्कि इसके प्रभाव से उनके अपने आदर्शवाद की सीमाएं फैलती रहीं। हेगल आदर्शवादी इसलिए था कि वह समाज के विकास और प्रगति का मूलाधार विचार को मानता था। लेकिन उसने औद्योगिक क्रांति और महान वैज्ञानिक आविष्कारों के दवाव से द्वंद्ववाद का निरूपण करके आदर्शवाद को उसकी अंतिम सीमा तक पहुंचा दिया। मार्क्स ने हेगल के दर्शन को, जो सिर के वल खड़ा

था, पांव पर खड़ा किया और अपने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद द्वारा दर्शन और विज्ञान में सामंजस्य स्थापित किया। पर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद शोषक वर्ग का नहीं, सर्वहारा का क्रांतिकारी दर्शन है, गरीब और अमीर के भेद को हमेशा-हमेशा के लिए मिटा देने का दर्शन है। गांधीवाद से, जो यथास्थिति बनाये रखने का क्रांतिविरोधी मध्यकालीन दर्शन है, इसका कुछ भी मेल नहीं।

परंपरागत वेदांत-दर्शन को मानने वालों ने भी, जिनके नजदीक जगत माया और चरम सत्य—ब्रह्म का एक असुंदर रूप है, उत्पादन द्वारा जुटाई गई वस्तुओं को कभी लेने से इंकार नहीं किया, बल्कि श्रम का शोषण करके अपने लिए सुख-सुविधा के अपार साधन जुटाये। यों उनके विचार और व्यवहार में—कथनी और करनी में हमेशा अंतर रहा, जिससे जाने-अनजाने धार्मिक पाखंड, विडंबना और मिथ्याचरण का पोषण हुआ। जवाहरलाल ने लिखा है :

"जब संसार को माया अथवा भ्रम कहा गया तब भी पूर्ण सत्य के रूप में नहीं, बल्कि जिस चीज को चरम सत्य समझा जाता था, उसकी तुलना में एक सापेक्षित सत्य के रूप में—और विश्व को उसके वास्तविक रूप में ही स्वीकार किया गया।"
(हिन्दुस्तान की कहानी)

गांधीवाद जिस सत्य पर बहुत अधिक बल देता है, वह वस्तुपरक सापेक्षिक सत्य नहीं, जो क्षण-क्षण बदल रहा है और जिसे मानव-श्रम को नई-नई उपलब्धियां और आविष्कार अधिकाधिक पूर्ण और समृद्ध बनाते चले जा रहे हैं, बल्कि एक अपरिवर्तनशील चरम सत्य है, जिसका चिंतन वेदान्तियों और सभी आदर्शवादियों द्वारा 'ब्रह्म' के रूप में किया जाता है। इस चरम सत्य अर्थात् ब्रह्म का एक अंश संसार के प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। तप, त्याग, व्रत और आत्मशुद्धि द्वारा इस अंश को बढ़ाया जा सकता है और कष्ट सहकर, मार खाकर, इस अंश को कष्ट देने और मारने वाले में भी जगाया-बढ़ाया जा सकता है। गांधीवाद का यही सार-तत्त्व है, जो भीतरी परिवर्तन द्वारा पाप, लोभ और क्रोध के असत्य तत्त्व को धीरे-धीरे कम और अंत में बिलकुल खत्म करके न सिर्फ व्यक्ति को बल्कि समूचे मानव समाज को ब्रह्मरूप बनाना अपना आदर्श घोषित करता है।

मगर मनुष्य का सदियों का ऐतिहासिक अनुभव इस आदर्श को बहुत पहले झुठला चुका है। हमारे देश के योगियों और गोरख-पंथियों ने इस ब्रह्म को पाने की लालसा में पार्थिव जगत को छोड़ा, जंगल-जंगल घूमे, घोर तपस्याएं कीं और जाने क्या-क्या हठ-क्रियाएं साधीं। इन सबका परिणाम यह निकला कि जब-जब उन्हें भूख ने सताया तब-तब पार्थिव जगत की ओर लौटे और गृहस्थियों के द्वार पर 'अलख निरंजन' की सदा लगाते हुए स्वीकार किया कि हमारा सब परिश्रम व्यर्थ है, "ब्रह्म को देखा-पाया नहीं जा सकता।" गांधीवादी कांग्रेसजनों की तो बात ही जाने दीजिए, उनकी सारी दौड़-धूप, स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में और उसके बाद, कुर्सियों, पदों,

वेतन-भत्तों, बंगलों और कारों के लिए रही है। 1921 से आज तक के लगभग पचास वर्ष में गांधीवाद का, जो व्यावहारिक रूप विकसित हुआ है, उसमें हम चरम सत्य का—ब्रह्म का अंश सिर्फ यही देखते हैं कि या तो कुछ पुराने झूठों का नाम सत्य रख दिया गया है या फिर सत्य के नाम पर कुछ नए झूठों की सृष्टि की गई है, जिन्हें हम अपने राष्ट्रीय जीवन में दिन-दिन बढ़ रहे भ्रष्टाचार, विडंबना और आदर्शहीनता के रूप में भोग रहे हैं।

एक मध्यकालीन अव्यावहारिक दर्शन को अपना लेने का परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था। जवाहरलाल यह सब समझते थे और अगस्त 1942 के आंदोलन के सिलसिले में, जब वह अहमदाबाद किला में नजरबंद थे, तभी लिखा था :

"जैसे हम पहले थे, उसके मुकाबले में हम कोई ज्यादा सच्चे नहीं बन गये, लेकिन अटल सत्य के प्रतीक गांधीजी बराबर हमारे सामने थे, जो हमको ऊपर खींचते थे और सत्य पर डटे रहने का हमें रास्ता दिखाते थे। सत्य क्या है?" अब यहां अंतर्विरोध सिर उठाता है और दिमाग में कुछ ऐसा गड्डमड्ड हो जाता है कि एक स्पष्ट परिभाषा न देकर जवाहरलाल अपनी विवशता घोषित करते हैं, "पक्के तौर पर मैं यह नहीं जानता और शायद हमारे सत्य सापेक्षिक और पूरे-के-पूरे हमारी पहुंच के परे हैं। अलग-अलग आदमी सत्य को अलग-अलग तरह से लेते हैं और हर आदमी पर अपनी-अपनी पृष्ठभूमि, शिक्षा और प्रवृत्तियों का बड़ा असर होता है।"

जवाहरलाल पर उनकी पृष्ठभूमि, शिक्षा और प्रवृत्तियों के असर को हम विस्तार में देख चुके हैं। उनके परिवार का सामंतवाद से घनिष्ठ संबंध था, जिससे परंपरागत वेदांत-दर्शन उन्हें विरासत में मिला था। हालांकि पिता ने सामंतवादी तत्त्वों को झटककर अपने चिंतन को बहुत हद तक वैज्ञानिक बना लिया था और अपने जीवन को और घर के वातावरण को पूंजीवादी सभ्यता के सांचे में ढाल दिया था, मगर जवाहरलाल का लालन-पालन जिस विलासिता में हुआ, उसने उन पर वेदांत-दर्शन के प्रभाव को गहरा बनाये रखा। इसी कारण वह एनी बेसेंट और ब्रुक्स के ब्रह्मवाद की ओर आकर्षित हुए और थियोसॉफी की दीक्षा ली। फिर जब शिक्षा के लिए विलायत गए तो पतनोन्मुख पश्चिमी सभ्यता की भोगवादी प्रवृत्तियों ने और नीत्शे के सनकीवाद ने—अतिमानव के सिद्धांत ने उन्हें बहुत ज्यादा प्रभावित किया। जब वह स्वदेश लौटे तो उनका वर्ग-चरित्र एक ठोस और दृढ़ रूप धारण कर चुका था। क्रांतिविरोधी गांधीवादी दर्शन से उसका राजनैतिक संबंध जुड़ जाना स्वाभाविक ही था। यह ठीक है कि विज्ञान में उनकी रुचि थी; लेकिन विज्ञान के प्रति भी उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। पदार्थ की वास्तविकता को मानते हुए भी वह आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते थे अर्थात् वह द्वैतवादी थे। लिखा है :

"आध्यात्मिक चीजों में, जो हमारी भौतिक दुनिया की सीमा से आगे हैं,

थोड़ी-बहुत आस्था आवश्यक प्रतीत होती है; नैतिक, आध्यात्मिक और आदर्शवादी अवधारणाओं पर थोड़ी-बहुत निर्भरता जरूरी है, नहीं तो हमारे पास कोई उद्देश्य अथवा सार्थकता नहीं रह जायेगी। हम ईश्वर में विश्वास करें या नहीं, किसी-न-किसी चीज में विश्वास न होना असंभव है, चाहे हम उसे प्राणदायक रचनात्मक शक्ति कहें या पदार्थ में अंतर्निहित शक्ति—वह यद्यपि अस्पष्ट है, तथापि वह उतनी ही सत्य है, जितना मृत्यु की तुलना में जीवन।" (हिन्दुस्तान की कहानी)

मरने के बाद दाह-संस्कार की और अस्थियों के गंगा-प्रवाह की जवाहरलाल ने जो वसीयत लिखी है चाहे उसे सुंदर लफ्फाजी से सजाया गया है, उसकी तह में भी इसी विश्वास की प्रेरणा है। वरना इस मामले में डॉ. राममनोहर लोहिया और सावरकर तक उनसे कहीं अधिक प्रगतिशील सिद्ध हुए, जिन्होंने अपना दाह-संस्कार बिजली द्वारा करने को कहा।

प्रतिक्रियावाद और पतनोन्मुख पूंजीवाद के पूरे युग की राजनीति तथा संस्कृति का आधार आदर्शवाद है, जिसने वैज्ञानिक उन्नति और मार्क्सवादी आलोचना के दबाव से मनोगत आदर्शवाद, वस्तुगत आदर्शवाद, व्यवहारवाद, रहस्यवाद, अस्तित्ववाद, प्रयोगवाद और अराजकतावाद आदि के विभिन्न रूप धारण कर लिए हैं। इनमें व्यावहारवाद (Pragmatism) को जिसका प्रतिपादन अमरीकी मनोविज्ञान के विशेषज्ञ विलियम जेम्स ने किया है, सबसे सशक्त तथा आधुनिकतम माना जाता है। यह व्यावहारिकता पर बल देता है और जेम्स ने इसे 'कर्म का दर्शन' कहा है। इसके अनुसार "कोई भी विचार उस समय तक 'सत्य' है, जब तक उस पर विश्वास करने से हमें अपने जीवन में लाभ पहुंचता है।" दरअसल यह मुनाफाखोर अमरीकी साम्राज्यवादी व्यापारियों का दर्शन है, जिसे दूसरे देशों के उनके भाई-बंदों ने भी अपना लिया है। जवाहरलाल ने गांधीवादी सत्य की, जो उक्त व्यावहारिक परिभाषा की है, यह इससे बहुत मुख्तलिफ नहीं है। पूरे राष्ट्रीय आंदोलन में क्रांतिकारी संघर्षों को टालने और निहित स्वार्थों की रक्षा करने के लिए समय-समय पर ऐसे ही 'सत्यों' का सहारा लिया गया और अब भी हमारे राष्ट्रीय जीवन में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों को रोकने के लिए ऐसे ही 'सत्य' का सहारा लेकर उन वर्गों के स्वार्थों की रक्षा की जा रही है, जिनका कांग्रेस प्रतिनिधित्व करती है। समाजवादी समाज के निर्माण का नारा भी एक ऐसा ही 'सत्य' है।

जवाहरलाल ने करंजिया के साथ अपनी भेंट में कहा था, "मैं समाजवाद में पिछले पचास वर्षों से विश्वास करता आ रहा हूं और...उसमें विश्वास करता तथा उसके लिए काम करता रहूंगा।" (द माइंड ऑफ मिस्टर नेहरू)

लेकिन उनके इस विश्वास का दार्शनिक आधार क्या था? और उनके दिमाग में समाजवाद की धारणा क्या थी? 15 अगस्त, 1958 को उन्होंने अपने 'मूलभूत दृष्टिकोण' निबंध में लिखा था : "लेकिन, समाजवाद क्या है? इसका कोई ठीक उत्तर

देना कठिन है और समाजवाद की अनेक परिभाषाएं हैं। कुछ लोग शायद अस्पष्ट ढंग से सिर्फ यह सोचते हैं कि वह कोई अच्छी चीज है और उसका मकसद समानता स्थापित करना है। पर यह सोच हमें किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचाती।" जब उनके पास कोई ठोस उत्तर नहीं और उनके दिमाग में समाजवाद की कोई निश्चित परिभाषा ही नहीं तो उनका विश्वास कैसे बना? और उन्होंने किस समाजवाद के लिए क्या काम किया? इस सिलसिले में स्पष्ट बात उन्होंने सिर्फ इतनी ही कही है, "समाजवाद बुनियादी तौर पर पूंजीवाद से भिन्न मार्ग है तथापि खयाल है कि दोनों का बड़ा अंतर खत्म होता जा रहा है क्योंकि समाजवाद के बहुत-से विचार धीरे-धीरे पूंजीवादी व्यवस्था का अंग बनते जा रहे हैं।" अर्थात् समाजवाद के विचार अपना लेने से खुद पूंजीवाद के समाजवाद में बदल जाने की संभावना है। कांग्रेस सरकार ने समाजवादी समाज के निर्माण का जो मार्ग अपनाया; उसका आधार भी यही है। वह लिखते है :

"इसके लिए आयोजन आवश्यक है वरना हम अपने साधनों को, जो अत्यंत सीमित हैं; व्यर्थ खोते हैं। आयोजन का मतलब है प्रगति के आधार और गति को सुदृढ़ बनाने का सुनिश्चित मार्ग, ताकि समाज तमाम मोर्चों पर आगे बढ़ सके।"
(इकनोमिक रिव्यू)

असल सवाल व्यक्तिगत संपत्ति का और उत्पादन-संबंधों का है। पूंजीवाद ने श्रम का समाजीकरण किया, समाजवाद संपत्ति का समाजीकरण करेगा, अगर कृषि के क्षेत्र में जमींदारी खत्म न की जाये और औद्योगिक क्षेत्र में घरेलू और विदेशी पूंजीपतियों की इजारादारी ज्यों-की-त्यों बनी रहे तो किसानों और मजदूरों की दरिद्रता कैसे दूर होगी और शोषण कैसे समाप्त होगा? ज़ाहिर है कि जिस समाजवाद में जवाहरलाल का विश्वास था वह समाजवाद नहीं कोई और चीज है। तीन पंचवर्षीय योजनाओं का हश्र वह खुद देख चुके थे और चौथी का और भी बुरा हश्र उनके उत्तराधिकारी देख रहे हैं। दरिद्रता और शोषण के रहते और अंग्रेज साम्राज्यवादियों से मिली इस पुरानी नौकरशाही मशीनरी के रहते आयोजन की बात करना बूढ़ी घोड़ी लाल लगाम की कहावत को चरितार्थ करना है।

मार्क्स ने समाजवाद की वैज्ञानिक परिभाषा करके पहले से प्रचलित कई प्रकार के काल्पनिक समाजवादों और उनके द्वारा फैलाये गये भ्रमों को दूर किया। इसी परिभाषा के आधार पर समाजवाद का नाम मार्क्सवाद, वैज्ञानिक समाजवाद अथवा कम्युनिज्म पड़ा। मगर जवाहरलाल मार्क्स की इस वैज्ञानिक परिभाषा को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनके कथनानुसार कम्युनिज्म मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता, कम्युनिज्म में व्यक्ति को समाज पर कुर्बान किया जाता है और उनका सबसे बड़ा एतराज यह है कि कम्युनिज्म का ताल्लुक अहिंसा से है, जो गांधी के शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक मार्ग के एकदम विपरीत है। लेकिन जवाहरलाल जिस सरकार के 17 साल तक प्रधानमंत्री रहे क्या वह हिंसा ही का संगठित रूप नहीं है

और उनके इस 17 वर्ष के शासन में गांधी के 'शांतिपूर्ण' मार्ग को हिन्दुस्तान की मेहनतकश जनता ने जितना भुगता है इस काल में किसी दूसरे देश की मेहनतकश जनता ने उतना नहीं भुगता होगा। और 17 सितंबर की सरकारी कर्मचारियों की सांकेतिक हड़ताल को कुचलने के लिए जारी किये गये अध्यादेश और पुलिस का बर्बर दमन इस शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक मार्ग की सच्चाई का ताजा सबूत है।

हिंसा का आधार शोषण है। जब तक एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्गों का शोषण होता रहेगा, मानव समाज में हिंसा भी अनिवार्य रूप से बनी रहेगी और व्यक्ति तथा समाज के बीच की असंगतियां भी बनी रहेंगी। हिंसा और इन असंगतियों को दूर करने का यह उपाय नहीं कि शोषण और शोषित में प्रेरणा तथा उपदेश द्वारा ब्रह्म के कल्पित अंश को जगाया-बढ़ाया जाये, यह उपाय अमूर्त और काल्पनिक है, जिसे मानव अनुभव बहुत पहले रद्द कर चुका है। कम्युनिज्म इसका ऐतिहासिक उपाय यह बताता है कि शोषक वर्ग की प्रतिक्रियावादी संगठित हिंसा के खिलाफ क्रांतिकारी संगठित हिंसा का प्रयोग किया जाय। जब पहले शोषण की व्यवस्था, अपने समस्त विभिन्न रूपों में समाप्त कर दी जायगी तभी हिंसा और व्यक्ति तथा समाज के बीच की असंगतियां दूर होंगी। उन्हें दूर करना ही कम्युनिज्म का वास्तविक ध्येय है।

जवाहरलाल जब इस बात को मानने से इनकार करते हैं तो मनुष्य के सदियों लंबे अनुभव को अर्थात् इतिहास के परिस्थिति-जनित दर्शन को मानने से इनकार करते हैं।

जवाहरलाल ने अपने 'मूलभूत दृष्टिकोण' निबंध में विज्ञान के प्रति भी निराशा व्यक्त की है। उनका कहना है कि हमारे इस स्पूतनिक तथा परमाणु युग में विज्ञान ने इतनी समस्याएं खड़ी कर दी हैं कि उनके हल का तो सवाल ही पैदा नहीं होता, मानवबुद्धि उन्हें समझने तक में असमर्थ है। और फिर विज्ञान ने हिंसा और विनाश की शक्तियों को विकसित करके मनुष्य को मौत के कगार पर ला खड़ा किया है, सामाजिक सुरक्षा एमदम खतरे में है।

इसलिए वह बुद्धि, ज्ञान और तर्क को—हर प्रकार के जीवन-दर्शन को महत्त्वहीन ठहराकर अपना निर्णय घोषित करते हैं :

"यह बात स्पष्ट है कि असल महत्त्व अच्छे प्रकार के मनुष्यों का है। राष्ट्र के धन तथा सांस्कृतिक विकास का मनुष्य ही एकमात्र साधन है। अतएव अच्छे प्रकार के मनुष्य पैदा करने के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य का बहुत अधिक महत्त्व है। यहां भी साधनों का अभाव हमारे लिए बाधा बनेगा; लेकिन फिर भी हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि सही शिक्षा और अच्छा स्वास्थ्य ही आर्थिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक विकास का आधार जुटा पायेगी।"

जवाहरलाल का वह अमूर्त-चिंतन साधनों के अभाव की बाधा को दूर करने का अगर कोई उपाय नहीं सुझाता तो शिक्षा और स्वास्थ्य की बात को याद रखने

ही से क्या लाभ होगा? जवाहरलाल जब सही शिक्षा को इतना महत्त्व देते थे तो शिक्षा की वर्तमान दूषित प्रणाली क्यों अपनाये रखी?

जीवन-दर्शन के बारे में मार्क्स का प्रसिद्ध और प्यारा सूत्र है : "मानव-सत्ता (Being) चेतना को निर्धारित करती है, चेतना मानवसत्ता को निर्धारित नहीं करती।" इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि अमल और फलसफा जिंदगी की गाड़ी के दो पहिये हैं, एक का दूसरे से बड़ा-छोटा होना संभव नहीं है। अतएव जवाहरलाल के चिंतन में, जो इतना अंतर्विरोध, दुविधा और अस्थिरता है, जिसके कारण किसी ने उन्हें भारतीय राजनैतिक रंगमंच का हैमलेट ठीक ही कहा है, उनके करनी और कथनी के अंतर से उत्पन्न होती है, इसे उन्होंने खुद भी महसूस किया है :

"होता यह है कि आमतौर से काम और विचार, इनमें से एक दूसरे से आगे बढ़ जाता है, इस तरह दोनों में सामंजस्य नहीं हो पाता और दोनों को मिलाने में फिजूल कोशिश सर्फ होती है।" लेकिन जब अमल चर्खे से बंधा हो तो कोशिश व्यर्थ है और अंत में जवाहरलाल का अमूर्त चिंतन कर्म से संबंध विच्छेद करके आकाश में उड़ते रहने में ही सुख महसूस करता है—"शायद मुझे एक उड़ाका होना चाहिए था—इसलिए कि जब जिंदगी का धीमापन और उदासी मुझ पर छाने लगती, तो मैं उड़कर बादलों के कोलाहल में समा जाता और अपने से कहता :

'मैंने सब-कुछ तौलकर देख लिया, सब बातों पर विचार कर लिया, जो आने वाले साल हैं, वे सांस की बरबादी से जंचे, जो साल पीछे छूट गये, उनमें भी सांस की बरबादी रही है—इस जिंदगी, मौत के मुकाबले में अगर उन्हें तौला जाय'।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

इतने बड़े सफल नेता में आखिर यह निराशा और सांस की बरबादी का एहसास क्यों?

आधुनिक संशोधनवादी रूसी शासक गुट की दिलचस्पी चूंकि क्रांति में नहीं बल्कि यथास्थिति बनाये रखने में है, इसलिए गांधी और जवाहरलाल का नाम उछालकर हमारी मेहनतकश जनता में भ्रम फैलाने के सिलसिले में वे भी अमरीकी साम्राज्यवादियों और प्रतिक्रियावादी कांग्रेस शासकों से किसी तरह पीछे नहीं हैं। पिछले साल नई दिल्ली स्थित रूसी सूचना विभाग ने 'नेहरूजी की स्मृति में' नाम की एक सोवियत भूमि पुस्तिका प्रकाशित की थी। इसमें चार रूसी विद्वानों के लेख संकलित हैं, इन्हें पढ़ने से पता चलता है कि पुस्तिका का उद्देश्य भ्रम फैलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उदाहरण के लिए एन निकोलाएव द्वारा लिखित 'प्राक्कथन' का सारतत्त्व ये पंक्तियां देखिए :

"अपने परिवार के पूर्वाग्रहों और उस समय भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन की राष्ट्रीयवादी सीमाओं के बावजूद उनकी अथक शक्ति के कारण ही राष्ट्रीय कांग्रेस ने समाजवादी समाज के निर्माण को अपना लक्ष्य घोषित किया। नेहरू के विचारों

को मार्क्सवाद समझना गलत होगा; लेकिन अपने समाजवादी आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जो निष्ठापूर्ण प्रयत्न किये, उनसे उनके प्रति गहरे आदर का भाव उत्पन्न होता है।"

मतलब यह है कि नवसंशोधनवादियों के नजदीक मार्क्सवाद के बिना भी समाजवादी आदर्शों की प्राप्ति संभव है और उनके नजदीक निष्ठा का भी कोई वर्ग-आधार नहीं है, वह एक अमूर्त वस्तु है। उनके इस समूर्त चिंतन से नेहरू के प्रति उनके आदर भाव का वर्ग-आधार सहज में समझा जा सकता है।

इतिहास लेखक

एक बार की बात है, चेक दूतावास में दावत थी। प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल भी मौजूद थे। कुछ मित्र लेखकों ने मुझसे कहा—"रहबर साहब; चलिए रहबरी कीजिए, पंडितजी से कुछ बातें की जाएं।"

प्रधानमंत्री से बात करने का वह कोई उचित स्थान नहीं था, लेकिन मैंने इस पहलू पर विचार ही नहीं किया। इत्तफाक से वह लान में उस समय अकेले थे। मैं रहबरी के शौक में मित्रों के साथ आगे बढ़ा। "पंडितजी, नमस्ते" मैंने उनके सम्मुख जाकर बड़ी नम्रता से कहा।

"नमस्ते।" पंडितजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

"आपको तो क्या याद होगा?" मैंने बात शुरू की, "लुधियाना अखिल भारतीय प्रजामंडल सम्मेलन में आपके साथ काम किया था।"

"लुधियाना!" उन्होंने दिमाग पर जोर डालते हुए दोहराया।

"जी, हां। फरवरी 1939 की बात है।"

मेरे जीवन में तो इस सम्मेलन और इस तिथि का बड़ा महत्त्व था और राजनैतिक जीवन में शायद यह घटना सर्वोपरि थी। पर पंडितजी का जीवन तो इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं, सम्मेलनों तथा तिथियों से ओत-प्रोत था। "ओह! बहुत दिन हुए" स्मृतियों के ढेर में से जैसे इसे खोजते हुए उन्होंने कहा।

"हम सब लेखक हैं।" अपने मित्रों का परिचय देते हुए मैंने विषय बदला।

"मैं भी लेखक हूं।" पंडितजी ने प्रसन्न मुद्रा में कहा, "लेकिन राजनीति में ऐसा उलझा हूं कि लेखक होने की बात भूल-सी गई है।"

"मैंने आपकी पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' अगस्त 1942 की नजरबंदी के दिनों में दो बार पढ़ी थी। एक बार हाल ही में अब फिर पढ़ी है। पहले बहुत अच्छी लगी थी, पर इस बार मन कुछ भीगा नहीं।"

"हां, वह छोटी बच्ची के लिए पत्रों में लिखी गई थी।" पंडितजी ने उत्तर दिया।

"वह तो आपकी शैली है और रोचक है। लेकिन मैं बात दृष्टिकोण की कर

रहा हूं।"

पंडितजी सिर्फ मुस्कराये और आगे की तरफ पग बढ़ा दिया।

वह वही रहस्यमयी मुस्कराहट थी, जिसे वह जनसमूह की सद्भावना प्राप्त करने के लिए यदा-कदा नाटकीय ढंग से होंठों पर लाने के अभ्यस्त हो चुके थे। लेकिन मैंने इस मुस्कराहट के अर्थ को समझना शुरू कर दिया था और इस भेंट के दस-बारह साल बाद तो और भी भली प्रकार समझ लिया है। इस मुस्कराहट को समझ लेने के बाद जीवन के प्रति, राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति और इतिहास के प्रति उनके रुख को समझ लेना कुछ भी कठिन नहीं है।

'हिन्दुस्तान की कहानी' अर्थात् 'भारत की खोज' नाम की अपनी ऐतिहासिक पुस्तक लिखने का उद्देश्य अतीत को समझने और उसका वर्तमान तथा भविष्य से संबंध स्थापित करना बताते हुए जवाहरलाल ने लिखा है :

"गुजरे हुए जमाने को और उसके मौजूदा जमाने के साथ के संबंध को खोजने की इसी कोशिश ने, आज से बारह बरस पहले, अपनी लड़की के नाम लिखे गये खतों की शक्ल में, मुझे 'विश्व इतिहास की झलक' लिखने पर आमादा किया था। मैंने कुछ सतही ढंग की चीज लिखी और जहां तक बन पड़ा सादे ढंग से लिखा, क्योंकि वह एक लड़की के पढ़ने के लिए लिखी गई थी, जिसकी उम्र पंद्रह-सोलह साल की थी। लेकिन इस लिखने के पीछे वही तलाश और खोज थी...

इसी तरह की एक तलाश ने अगरचे वह ज्यादा नजदीकी वक्त और लोगों तक महदूद थी, मुझे अपनी कहानी लिखने पर उकसाया।"

इसी खोज के सिलसिले में बारह साल बाद जब वे ज्यादा विचारशील और गंभीर हो गए थे, उन्होंने 'हिन्दुस्तान की कहानी' लिखी क्योंकि जब तक अतीत और मौजूदा वक्त में, जहां इतनी कशमकश है और हल करने के लिए इतने साल हैं, एक जीती-जागती कड़ी न कायम कर सकें, तब तक हम इस जिंदगी को जिंदगी नहीं कह सकते। यह कला, कला के लिए जैसी एक चीज बन जाती है, जिसमें कोई उत्साह नहीं, काम करने की उमंग नहीं, जो जिंदगी का सार है।

इतिहास क्या है? मनुष्य के सदियों के संघर्ष की कहानी का नाम ही इतिहास है। इस संघर्ष के विभिन्न रूप हैं। जैसे प्रकृति की अंधी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष, अपने ही अज्ञान के विरुद्ध संघर्ष, अन्याय तथा शोषण के विरुद्ध संघर्ष, दासता और कुरूपता के विरुद्ध संघर्ष। यह संघर्ष गंगा की धारा की तरह बहती, फैलती, इठलाती—एक अटूट प्रक्रिया है। किसी भी जमाने का संघर्ष उसी वक्त समाप्त नहीं हो जाता बल्कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया आने वाली घटनाओं को प्रभावित करती रहती है। हमारे विचारों पर अटूट संघर्ष के इसी प्रभाव का नाम परंपरा है। जब हम परंपरा के सूत्र को थाम लेते हैं तो जीवन की भूल-भुलैयों में खो जाने का अंदेशा नहीं रह जाता, हम उत्साह और उमंग में भरे मजबूत कदमों से आगे बढ़ते रहते हैं। अतएव

इतिहास का अध्ययन करना इस परंपरा को—पुरखों की विरासत को समझना है। लिखा है—

"मेरी विरासत क्या है? मैं किस चीज का वारिस हूं? उस सबका, जिसे इंसान ने दसियों, हजारों साल में हासिल किया है, उस सबका, जिस पर इसने विचार किया है, जिसका इसने अनुभव किया है या जिसे इसने सहा है या जिसमें इसने सुख पाया है, उसकी विजय की घोषणाओं का और उसकी हारों की तीखी वेदना का, उस अचरज-भरी जिंदगी का, जो इतने पहले शुरू हुई और अब भी चल रही है और जो हमें अपनी तरफ इशारा करके बुला रही है। इस सबके, बल्कि इससे भी ज्यादा के, सभी इंसानों की शिरकत में, हम वारिस हैं। लेकिन हम हिन्दुस्तानियों की एक खास विरासत या दाय है। वह ऐसी नहीं कि दूसरे उससे वंचित हों, क्योंकि सभी विरासतें किसी एक जाति की न होकर सारी मनुष्य जाति की होती हैं। फिर भी वह ऐसी हैं, जो हम पर खास तौर पर लागू होती हैं और जो कुछ हम हैं या हो सकेंगे, उसमें उसका हाथ है।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

जवाहरलाल विचारक और इतिहास-लेखक ही नहीं, हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के प्रमुख नेता भी थे। इसलिए उन्होंने इतिहास का अध्ययन, अध्ययन के लिए प्रस्तुत नहीं किया बल्कि इसका उद्देश्य संघर्ष के दौरान उत्पन्न होने वाली राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सांप्रदायिक समस्याओं का हल पेश करके राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाना और आजादी के लिए लड़ने वाली जनता की चेतना और कर्म को उभाड़कर संघर्ष को सफलता की मंजिल तक पहुंचाना था। इसमें वह कहां तक सफल हो पाए इसका अंदाजा हम अपने राष्ट्रीय संघर्ष के परिणामों से सहज में लगा सकते हैं। इससे हम, जो कुछ बन पाए हैं या आगे बनने की संभावना है, वह अब बिलकुल स्पष्ट है।

'विश्व इतिहास की झलक' चाहे उन्होंने एक पंद्रह-सोलह बरस की उम्र की लड़की के लिए सादा ढंग से लिखी है, इससे दृष्टिकोण में तो कोई अंतर नहीं आता। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उनके रुख ने, कथनी और करनी के अंतर ने उनके चिंतन में जो अंतर्विरोध उत्पन्न कर दिया था, वह 'मेरी कहानी' और 'हिन्दुस्तान की कहानी' की तरह इसमें भी झलक पड़ता है। भूमिका में लिखा है :

"दिमाग में बहते हुए विचारों को पकड़कर कागज पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं।"

यह ठीक है कि भाषा विचारों को भौतिक रूप प्रदान करती है। लेकिन लिखने की प्रक्रिया में उनके, जो नये-नये पहलू निकलते हैं, उन पहलुओं को लिखने वाले का दृष्टिकोण ही निर्धारित करता है। जवाहरलाल का दृष्टिकोण पहले ही पत्र से स्पष्ट हो जाता है। लिखा है :

"इतिहास पढ़कर हमें यह भी सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्की की है। दुनिया के आरंभ के सरल जीवों की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गए और कैसे सबसे आखिर जीवों का सरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के जोर पर उसने कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना जाता है।" यह एकदम वैज्ञानिक चिंतन है, डार्विन के विकासवाद की संक्षिप्त व्याख्या है। पर जवाहरलाल नेहरू अपनी इस व्याख्या पर स्थिर नहीं रह पाते। यहीं से अंतर्विरोध सिर उठाता है, "लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लंबे जमानों पर नजर डालते हैं तो यह विश्वास करना मुश्किल होता है कि हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गए हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफी पाया जाता है।" और फिर तर्क को घुमा-फिराकर यहां तक आगे बढ़ा दिया है, "लेकिन अगर आपस के सहयोग और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी मानें तो हम कह सकते हैं कि इस लिहाज से दीमक और चींटियां मनुष्य जाति से अच्छी हैं।" यों अमूर्त्त चिंतन द्वारा "कुछ बातों में कुछ जीवों को आदमी से श्रेष्ठ" बताकर सत्याग्रह के लिए तर्कहीन सहयोग और त्याग की गुंजाइश पैदा हो गई है। इसी संदर्भ में जवाहरलाल ने महान् सभ्यता और विज्ञान के चमत्कारों को व्यर्थ की डींग बताया है, जो प्रतिक्रियावाद का पतनोन्मुख दर्शन है।

इसी पतनोन्मुख दर्शन को बारह साल बाद 'हिन्दुस्तान की कहानी' में यों प्रस्तुत किया है :

"या फिर मुमकिन है कि विज्ञान की तरक्की ही नैतिक संयमों को तोड़कर शक्ति और विनाश के उन भयानक साधनों को जिन्हें उसने तैयार किया है, बुरे और स्वार्थी लोगों के हाथों में केन्द्रित कर दे, ऐसे लोगों के हाथों में, जो दूसरों पर अधिकार करने की कोशिश में रहते हैं—और इस तरह खुद अपने बड़े कारनामों का खात्मा कर दे। इस तरह की कुछ बातें हम आजकल घटित होती हुई देखते हैं और इस युद्ध के पीछे है, मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष।"

आपको ताज्जुब होगा कि गांधी ने गीता का जो भाष्य लिखा है, उसमें भी कुरुक्षेत्र के युद्ध को मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष बताया गया है। और जवाहरलाल ही के शब्दों में इस संघर्ष का कारण यह है कि "मनुष्य में कुछ बात जिस तरह देवता-जैसी है उसी तरह कुछ शैतान-जैसी भी।"

मतलब यह है कि शैतान यानी बुराई हमारे इस वर्ग-विभाजित समाज में नहीं मनुष्य के अपने भीतर है, इसलिए शोषक तथा अन्यायी के विरुद्ध लड़ने के बजाय अपनी और उसकी आत्मशुद्धि के लिए उपवास और व्रत किए जाएं।

दरअसल जवाहरलाल ने जब 'विश्व इतिहास की झलक' लिखी तो वह कांग्रेस की बुर्जुआ राजनीति में गांधी के आशीर्वाद से पदारूढ़ हुए थे और सत्तारूढ़ होने

के लिए प्रत्यनशील थे। इसी प्रयत्न में उन्होंने चर्खे और सत्याग्रह की प्रतिक्रियावादी नीतियों से समझौता किया और सिर में घाव हो जाने की परवाह न करते हुए कांटों का ताज पहने रखा। लेकिन बारह साल बाद जब 'हिन्दुस्तान की कहानी' लिखी तो वह सत्तारूढ़ हो चुके थे और समाजवादी विचारों के प्रचार द्वारा इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी कि और नेताओं की तो बात ही छोड़िए किसी भी मामले पर खुद गांधी से उलझ जाने का सामर्थ्य उनमें पैदा हो गया था।

लेकिन इस लोकप्रियता की कीमत चुकाना भी जरूरी था और वह जवाहरलाल को यों चुकानी पड़ी कि शुरू-शुरू में वैज्ञानिक विचारधारा को अधिभौतिकवाद में गड्ड-मड्ड करते हुए, जिस संकोच, दुविधा और आत्मवेदना का उन्हें एहसास होता था और जिसमें निर्गह अनपढ़ जनता को धोखा देने का एहसास भी शामिल था, वह अब नहीं रह गया था। वह दोहरा चरित्र उनका सहज स्वभाव बन चुका था और जवाहरलाल ने इस बात को यों स्वीकारा है :

"मन की उथल-पुथल और परेशानी अब कम हो गई है, या ऐसी है कि ज्यादा वक्त तक ठहरती नहीं, हालांकि कहीं बड़े पैमाने पर मुझ पर विपत्तियां गुजरी हैं। मुझे ताज्जुब होता है कि ऐसा क्यों हुआ। क्या यह त्याग की भावना बढ़ जाने के सबब से है, या एहसास मोटा पड़ गया है...।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

अपनी इसी रचना की प्रस्तावना उन्होंने इन शब्दों पर समाप्त की है :

"यह मेरी है, लेकिन आज जो मेरी हालत है, उसे देखते हुए बिलकुल मेरी नहीं है, बल्कि यह मेरे किसी पुराने की नुमाइंदगी करती है, जो उन व्यक्तित्वों के लंबे सिलसिले में शामिल हो चुका है, जो कुछ वक्त तक कायम रहकर मिट गये हैं और अपनी महज एक याद छोड़ गए हैं।"

अर्थात् वह जवाहरलाल जो विज्ञान की, वर्ग-संघर्ष और क्रांति की बात किया करता था, वह समझौते की राजनीति में सत्तारूढ़ होने के प्रयास में यहां तक पहुंचते-पहुंचते अपने को मिटा चुका था। निश्चित रूप से ये ऐसे निराश व्यक्ति के शब्द हैं, जो अपनी समस्त शक्तियां शिथिल हो गईं महसूस कर रहा है।

इस अंतर को समझने के लिए दोनों पुस्तकों से कुछ और उदाहरण लिए जा सकते हैं। जैसे आत्मा के बारे में 'विश्व इतिहास की झलक' के पहले ही पत्र में लिखा है :

"आत्मा क्या चीज है, इसे हममें से न कोई समझता है और न बता सकता है और हर एक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने खयाल के मुताबिक अलग-अलग किया करता है।"

लेकिन 'हिन्दुस्तान की कहानी' लिखते समय "शरीर के भौतिक विनाश के बाद आत्मा के बने रहने" में बल्कि "पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी दलील जान पड़ती

है।" और मजे की बात यह है कि वह मनुष्य की आत्मा के भीतरी संघर्ष को युद्ध का कारण समझने लगते हैं। इसके विपरीत 'विश्व इतिहास की झलक' में 1914-18 के महायुद्ध का बयान यों शुरू होता है :

"मैंने इस युद्ध के कुछ कारणों की जांच करने की कोशिश की है : किस तरह पूंजीवादी उद्योग-प्रधान देशों की लालची-वृत्ति और साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वंद्विताएं टकराईं और उनके कारण संघर्ष लाजिमी हो गया; इसमें से हर देश के उद्योगपति फायदा उठाने के लिए किस तरह अधिकाधिक अवसर और क्षेत्र चाहते थे, किस तरह साहूकार लोग खूब रुपया कमाने की धुन में थे; किस तरह युद्ध-सामग्री बनाने वाले लंबे-चौड़े मुनाफे कमाना चाहते थे। बस, ये लोग युद्ध में कूद पड़े..."

सामंतवाद और पूंजीवाद में विचारधारा का जो संघर्ष था, उसका उल्लेख करते हुए लिखा था :

"अन्य देशों की तरह यूरोप में भी तथा अन्य धर्मों की तरह ईसाई धर्म में भी पुरानी धारणा यह थी कि पाप और दुःख सभी मनुष्यों को अनिवार्य रूप से भोगने पड़ते हैं। धर्म ने मानो इस संसार में दरिद्रता तथा मुसीबतों को एक स्थाई और यहां तक कि प्रतिष्ठ आसन दे दिया था। धर्म के प्रलोभन और पुरस्कार तमाम किसी परलोक के लिए थे; यहां तो हमें यही उपदेश दिया जाता था कि संतोष के साथ अपने भाग्य के भोगों को बर्दाश्त करते रहें और किसी मौलिक परिवर्तन के पीछे न पड़ें। दान-पुण्य, यानी गरीबों को टुकड़े डालने की वृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता था। मगर गरीब या गरीबी पैदा करने वाली प्रणाली का नाश करने की कोई कल्पना नहीं थी। स्वाधीनता और समानता के विचार ही चर्च और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे।"

(विश्व इतिहास की झलक)

और बारह बरस बाद इसी विषय का उल्लेख यों किया है :

"धर्म शब्द का व्यापक अर्थ लेते हुए हम देखेंगे कि इसका संबंध मनुष्य के अनुभव के उन प्रदेशों से है, जिनकी ठीक-ठीक माप नहीं हुई है, यानी जो विज्ञान की निश्चित जानकारी की हद में नहीं आया है।...शायद विज्ञान के साधारण तरीके और यह बात कि उसका संबंध दृश्य जगत और उसकी क्रियाओं से है, उसे उन बातों में पूरी तरह कारगर न होने दे, जो आत्मिक, कलात्मिक, आध्यात्मिक और अदृश्य जगत से संबंध रखने वाली हैं। जो हम देखते, सुनते और अनुभव करते हैं, यानी दिखाई पड़ने वाली और समय और अंतरिक्ष के भीतर परिवर्तनशील दुनिया तक ही जिंदगी महदूद नहीं है। यह बराबर स्पर्श कर रही है एक अनदेखी दुनिया को, जिसमें दूसरे संभवतः ज्यादा टिकने वाले या उतने ही परिवर्तनशील तत्त्व हैं और कोई विचारवान आदमी इस अनदेखी दुनिया की अवहेलना नहीं कर सकता।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

धर्म की यह व्याख्या और अनदेखी दुनिया की सृष्टि निश्चित रूप से अंधविश्वास फैलाने वाला प्रतिक्रियावादी दर्शन है। कारण यह है कि जवाहरलाल का यथास्थिति से मुकम्मल समझौता हो चुका था और बारह बरस पहले अपने को सत्तारूढ़ करने के लिए उन्हें जिन क्रांतिकारी और प्रगतिशील विचारों का प्रदर्शन करना पड़ा था, उनकी अब जरूरत नहीं रह गई थी। अतएव उनके चिंतन में जो अंतर्विरोधी प्रतिक्रियावादी तत्त्व था उसकी मात्रा कम होने के बजाय कहीं ज्यादा बढ़ गई थी। 'विश्व इतिहास की झलक' लिखते समय वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-पांति के बारे में उनके विचार थे :

"आज के समाज के संदर्भ में जाति प्रथा और उसके साथ की तमाम दूसरी चीजें पिछड़ी, प्रतिक्रियावादी, बंधनपूर्ण और प्रगति के मार्ग में अवरोध पैदा करने वाली हैं। इसके अंतर्गत स्थिति और अवसरों की समानता नहीं हो सकती, न तो इसके अंतर्गत राजनैतिक और न ही आर्थिक जनतंत्र हो सकता है, इन दो मान्यताओं में टकराव लाजिमी है और उस टकराव में इनमें से एक ही बच सकेगा।"

और 'हिन्दुस्तान की कहानी' लिखते समय इसी वर्ण-व्यवस्था के बारे में उनका रुख यह था :

"'वर्ण' या 'जाति' लफ्ज के इस्तेमाल से कुछ गलतफहमी होती है, क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग माने लगाते हैं। साधारण यूरोपियन या उसी के जैसे विचारों वाला हिन्दुस्तानी यह समझता है कि यह केवल वर्णों को पत्थर की तरह मजबूत करके अलग-अलग कर देना है और यह महज इस बात की तरकीब है कि वर्ण-भेद बना रहे, ऊंचे वर्ण के लोग सदा-सदा के लिए चोटी पर बने चले जाएं और नीचे वर्ण के लोग सदा-सदा के लिए नीचे बने रहें। इस विचार में सच्चाई है...लेकिन सच्चाई का यह महज एक पहलू है और इस कैफियत से यह नहीं पता चलता कि आखिर इस व्यवस्था में इतनी शक्ति और मजबूती क्योंकर रही कि यह आज तक चली आ रही है। उसने बौद्ध धर्म की जबर्दस्त टक्कर को झेल लिया और अफगान और मुगल शासन और इस्लाम के प्रसार की कई सदियां ही नहीं देखीं; बल्कि अनगिनत हिन्दू-सुधारकों के, जिन्होंने इसके खिलाफ अपनी आवाजें बुलंद कीं, वार सहे और यह तो सिर्फ़ आजकल ही ऐसा हुआ है कि उसकी बुनियाद ही पर हमला हो रहा है और इसका वजूद ही जोखिम में है।"...जिंदगी के हालात में तब्दीली आ गई है, "विचार के ढंग बदल रहे हैं, यहां तक कि अब गैर मुमकिन जान पड़ता है कि वर्ण-व्यवस्था कायम रह सके।" लेकिन "उसकी जगह क्या चीज ले लेगी, यह मैं नहीं कह सकता क्योंकि सिर्फ वर्ण-व्यवस्था ही जोखिम में नहीं है। संघर्ष है सामाजिक संगठन के मसले पर दो जुदा-जुदा नजरियों में। एक तरफ है पुराना हिन्दू विचार कि वर्ण या गिरोह संगठन की बुनियादी इकाई है : दूसरी तरफ पश्चिम का विचार है, जो बहुत ज्यादा व्यक्तिवाद पर जोर देता है, जो व्यक्ति को वर्ण से ऊपर

रखता है।"

घुमा-फिराकर खूबसूरत ढंग से वर्ण-व्यवस्था की वकालत की गई है। और इसके लिए बोदा अवैज्ञानिक तथा प्रतिक्रियावादी तर्क प्रस्तुत किया गया है, हिन्दू समन्वयवाद और पश्चिम के व्यक्तिवाद की विचारधारा के संघर्ष का।

जवाहरलाल जहां क्रांति की बात को घुमा-फिराकर टालते हैं, वहां सुधारवाद की बात को बड़े सीधे ढंग से और उत्साह के साथ बयान करते हैं :

"इसमें मुझे जरा भी शक नहीं कि सदियों से हिन्दुस्तान के ह्रास के कारणों में से एक खास कारण औरतों को पर्दे में रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी ज्यादा यकीन है कि इस वहशियाना रिवाज का पूरी तरह खत्म होना हमारी समाजी जिंदगी की तरक्की के लिए लाजिमी है। औरत को इससे नुकसान पहुंचता है यह जाहिर-सी बात है; लेकिन जो नुकसान मर्द को पहुंचता है, जो बढ़ते हुए बच्चे को पहुंचता है, जिसे अपना बहुत-सा वक्त औरतों के साथ पर्दे में बिताना पड़ता है, वह कम बड़ा नहीं है। खुशकिस्मती से यह रिवाज हिन्दुओं में बहुत तेजी से उठ रहा है और मुसलमानों में भी कुछ धीमी रफ्तार से। पर्दे के उठाने में सबसे ज्यादा हाथ कांग्रेस की सियासी और समाजी तहरीकों का रहा है, जिन्होंने बीच के वर्ग की दसियों हजार औरतों को अपनी ओर खींचा है और जो किसी-किसी सार्वजनिक धंधे में शरीक हुई हैं। गांधीजी पर्दे के रिवाज के कट्टर विरोधी रहे हैं और हैं और उन्होंने उसे "दूषित और बर्बर रिवाज" बताया है, जिसने औरतों को पिछड़ा हुआ और तरक्की से महरूम रखा है।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

जब 'मेरी कहानी' और 'विश्व इतिहास की झलक' लिखी तब हमारी राजनीति में समाजवादी विचारों का प्रभाव बढ़ रहा था और जवाहरलाल को अपने-आपको समाजवादी और क्रांतिकारी सिद्ध करना था, इसलिए इन दो पुस्तकों में बुर्जुआ संसदवाद और चुनाव की राजनीति की भी आलोचना मिलेगी। जैसे 'विश्व इतिहास की झलक' में लिखा है :

"वोट देने का अधिकार राजनैतिक सत्ता का प्रतीक है, और यह मान लिया गया है कि अगर हर एक आदमी को अधिकार हो, तो उसे राजनैतिक सत्ता में बराबर का हिस्सा मिल जायेगा। इसलिए सारी उन्नीसवीं सदी में लोकतंत्रवाद की मुख्य मांग यह थी कि मताधिकार बढ़ाया जाय।...

मगर विचित्र बात यह हुई कि अब ज्यादातर लोगों को वोट का अधिकार मिल गया, तब उन्हें मालूम पड़ा कि इससे उनकी हालत में कोई बड़ा अंतर नहीं हुआ। वोट का अधिकार मिल जाने पर भी राज्य में या तो उन्हें कुछ भी सत्ता नहीं मिली या बहुत थोड़ी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का? असली सत्ता तो उन लोगों के हाथ में रही, जो उसकी भूख से फायदा उठा सकते थे और उसे

मजबूर करके अपने फायदे का कोई भी मनचाहा काम उससे करा लेते थे। वोट के अधिकार से जिस राजनैतिक सत्ता के मिलने का खयाल था, वह आर्थिक सत्ता रहित बिना असलियत की परछाईं साबित हुई और आरंभिक लोकतंत्रवादियों के वे रौनकदार सपने कि मताधिकार मिलते ही समानता आ जायगी, अकारथ हो गये।"

लेकिन बारह बरस बाद जब 'हिन्दुस्तान की कहानी' लिखी तो परिस्थिति बदल गई थी। 1937 के चुनाव जीतकर कांग्रेस ने दो-ढाई साल तक आठ-नौ प्रांतों में प्रशासन चलाया था और 1945 में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू दूसरे कांग्रेसी नेताओं के साथ अहमदनगर किले में नजरबंद थे तो अधिकार की बहुत बड़ी किस्त अर्थात् औपनिवेशिक-पद मिल जाने की आशा बंध चुकी थी। इसलिए 'आम चुनाव' शीर्षक तले लिखा है कि "जन-सत्ता वाली या जम्हूरी हुकूमत के लिए चुनाव जरूरी या लाजिमी होता है।" चुनाव की राजनीति में कुछ बुराइयां अवश्य हैं; पर :

"चुनाव की ये बुराइयां खास तौर पर वहां ज्यादा फैली होती हैं, जहां निर्वाचकों का समूह बहुत थोड़ा होता है। अगर निर्वाचक समूह बड़ा हुआ तो इनमें से बहुत-सी बुराइयां दूर हो जाती हैं या कम-से-कम उतनी जाहिर नहीं होतीं।" इसलिए "मेरा यकीन है कि सभी बालिगों को, वे मर्द हों या औरत, चुनने के अख्यार होने चाहिएं और अगरचे मैं समझता हूं कि इस रास्ते में दिक्कतें हैं, फिर भी मुझे यकीन है कि इसके खिलाफ हिन्दुस्तान में जो आवाज बुलंद की जाती है, उसमें ज्यादा दम नहीं और इसके पीछे उन लोगों को खौफ है, जिन्हें खास हक हासिल है।"

मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में, चूंकि निर्वाचक समूह बड़ा है, इसलिए हर एक आदमी को मताधिकार मिलते ही यहां भूख और गरीबी का मसला हल हो जाएगा और शोषक वर्ग के खास अधिकार खत्म हो जायेंगे। यह हमारी मेहनतकश जनता को बुर्जुआ संसदवाद—चुनाव की राजनीति के ढर्रे पर लगाने की समझी-सोची कोशिश थी, क्योंकि युद्ध के बाद 'जन-सत्ता वाली' हुकूमत पा जाने का जो विश्वास पैदा हो गया था, उसे जवाहरलाल ने इसी पुस्तक के 'तलाश' अध्याय में यों व्यक्त किया है :

"फिर गुजरे हुए जमाने की विशाल तस्वीर धीरे-धीरे मौजूदा जमाने की बदनसीबी में बदल जाती है। जबकि हिन्दुस्तान अपने बीते दिनों के बड़प्पन के बावजूद एक गुलाम मुल्क है और इंग्लिस्तान का पुछल्ला बना हुआ है और सारी दुनिया एक भयानक और विध्वंसकारी लड़ाई के शिकंजे में है और इंसान को वहशी बनाये हुए है। लेकिन पांच हजार बरसों की इस कल्पना ने मुझे एक नई निगाह दी और हाल के जमाने का बोझ कुछ हल्का जान पड़ने लगा। अंग्रेजी सरकार की एक सौ अस्सी साल की हुकूमत हिन्दुस्तान की लंबी कहानी की महज एक दुखदायी घटना जान पड़ती है। वह फिर संभलने लगा है और इस अध्याय के आखिरी सफे का लिख जाना शुरू हो गया है। दुनिया भी इस वहशतनाक हालत को पार करेगी और एक

नई नींव पर अपना निर्माण करेगी।"

युद्ध के कारण इंसान को वहशी बना हुआ बताना, उस पूंजीपति शोषक वर्ग को नजर से ओझल करना है, जो इस वहशत के लिए दरअसल जिम्मेदार है, जो मुनाफे की हविस और मंडियों के बंटवारे के लिए युद्ध छेड़ता है। मनुष्य के बारे में यह अमूर्त चिंतन जन-विरोधी बुर्जुआ दृष्टिकोण है, जिसे जवाहरलाल ने यों आगे बढ़ाया है :

"मैं अपने जैसे या अपने वर्ग के लोगों को सराहने वाला नहीं था, लेकिन मुझे उम्मीद थी कि हो-न-हो वही हिन्दुस्तान की हिफाजत की लड़ाई में आगे आयेगा।" यानी राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई लड़ने का श्रेय सिर्फ बुर्जुआ वर्ग को प्राप्त है, "बीच का वर्ग अपने को कैद और जकड़ा हुआ पाता था और खुद बढ़ना और तरक्की करना चाहता था और चूंकि अंग्रेजी हुकूमत के चौखटे में गिरफ्तार रहते हुए, उसके लिए ऐसा करना मुमकिन न था, इस हुकूमत के खिलाफ़ उसमें बगावत का जज्बा पैदा हो गया, फिर भी यह जज्बा उस ढर्रे के खिलाफ नहीं था, जो हमें पीछे डाल रहा था। दरअसल यह महज अंग्रेजी बागडोर को बदलकर, उसे कायम रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढांचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह मुमकिन न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।"

दरअसल यह खुद कांग्रेस की, हमारे इजारेदार पूंजीपति वर्ग की, राजनीति थी जो अंग्रेजी बागडोर को बदलकर हमें पीछे की तरफ ले जाने वाले इस औपनिवेशिक ढांचे की सत्ता अपने हाथ में लेना चाहती थी। लेकिन अपने इरादों को छिपाने के लिए जवाहरलाल ने इसे मध्य वर्ग के जिम्मे मढ़ दिया है और अपने आपको और अपने वर्ग को क्रांतिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। और देखिए :

"आम जनता की मैं आदर्शवादी कल्पना नहीं करता हूं, और जहां तक हो सकता है, अमूर्त रूप से उसका खयाल करने से बचता हूं : हिन्दुस्तान की जनता इतनी विविध और विशाल होते हुए भी मेरे लिए बड़ी वास्तविक है। मैं उसका खयाल अस्पष्ट गुटों की शक्ल में नहीं, बल्कि व्यक्ति के रूप में करना चाहता हूं। यह हो सकता है कि मैं उनसे कोई बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था, इसलिए मुझे कोई मायूसी नहीं हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी, उससे मैंने उन्हें बढ़कर ही पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो मजबूती और अंदरूनी ताकत है, उसकी वजह यह है कि वे अपनी परंपरा अब तक अपनाये हुए हैं।"

कितना गहरा और कुटिल तर्क है ! देश की आम जनता को आर्थिक आधार पर मजदूरों, किसानों और मध्य वर्ग में और वर्ण-व्यवस्था के आधार पर शोषित और पीड़ित जातियों में विभाजित देखना आदर्शवादी कल्पना है। उनके लिए यह जनता वास्तविक तब बनती है, जब वह उसका खयाल व्यक्तियों के रूप में करते हैं। मतलब यह कि अब जब सत्ता की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आने वाली है तो आम जनता

के लिए वर्गाधार पर संगठित होकर संघर्ष जारी रखने की जरूरत नहीं रह जाती। बेहतर यह है कि वर्गों और जातियों के बजाय वह अपने बारे में व्यक्तियों के रूप में खयाल करना सीखे और प्राचीन संस्कृति की महान परंपरा और अंदरूनी ताकत पर, जो आत्मा और पुनर्जन्म के विश्वास से उत्पन्न होती है, गर्व करती हुई गरीबी में भी खुश रहे, जैसा कि वह आर्थिक शोषण और जाति-पांति के धार्मिक दमन के बावजूद सदियों से रहती आई है।

जवाहरलाल जानते थे कि भारतीय जनता में वर्ण-व्यवस्था के रक्षकों ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का विश्वास सदियों के धार्मिक प्रचार द्वारा इतना गहरा पैठा दिया है कि वह घोर व्यक्तिवादी बन गई है। जब तक उसमें यह विश्वास बना रहेगा, उससे क्रांति की, शोषण की इस बर्बर व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की उम्मीद नहीं की जा सकती और जवाहरलाल तथा दूसरे माडरेट कांग्रेसी नेताओं ने उससे कोई ऐसी बड़ी उम्मीद की भी नहीं थी। वे तो इसे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे के भीतर सुधारवादी ढंग से जिस हद तक लड़ाना चाहते थे, जनता उससे कहीं बढ़कर लड़ी और लड़ी इसलिए कि :

"हिन्दुस्तान की आजादी के लिए पिछली चौथाई सदी की लड़ाई और अंग्रेजी सरकार से मोर्चा लेने में मेरे मन में और बहुत-से और लोगों के मन में जो ख्वाहिश रही है, वह उसकी जीवन शक्ति को फिर जगाने की ख्वाहिश रही है।...दरअसल हमारा मकसद उनमें एक अंदरूनी ताक़त पैदा करना था—यह जानते हुए कि और बातें खुद-ब-खुद आ जायेंगी। हमें पीढ़ियों की गुलामी और एक मगरूर विदेशी ताकत की अधीनता को मिटा देना था।"

(हिन्दुस्तान की कहानी)

मतलब यह कि कांग्रेस के माडरेट नेताओं के मन में अंग्रेज की गुलामी के खिलाफ लड़ने की ख्वाहिश पैदा हुई और इसके लिए उन्होंने जनता में अंदरूनी ताकत को उभाड़ा और उसे अपना मकसद पूरा होने की हद तक लड़ाया। जनता में यह अंदरूनी ताकत उभाड़ने का सबसे ज्यादा श्रेय 'महात्मा' गांधी को प्राप्त है क्योंकि वह अपने भीतर एक अलौकिक शक्ति—एक अज्ञात तत्त्व लेकर पैदा हुए थे, हमारे इस युग के अवतार थे। 'मध्य वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आगमन' शीर्षक तले अंग्रेजों की दमनकारी नीति का उल्लेख करते हुए लिखा है :

"ऐसा मालूम पड़ता था कि किसी पूर्व शक्तिमान राक्षस के चंगुल में हम बेबस हैं, हमारे जिस्म के हिस्सों को लकवा मार गया है और हमारे दिमाग मुर्दा हो गए हैं। किसान वर्ग दब्बू था और उसमें डर समाया था; कारखाने के मजदूरों की हालत भी उनसे कोई बेहतर न थी। मध्यम वर्ग के और पढ़े-लिखे लोग, जो इस अंधेरे चातावरण में रोशनी दिखा सकते थे, खुद ही इस अंधेरे में डूबे हुए थे।...

हम क्या कर सकते थे? गरीबी और पस्तहिम्मती की इस दलदल से, जो

हिन्दुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी, हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे?...

और तब गांधीजी का आना हुआ। गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और सांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से अंधकर के पर्दे को हटा दिया..."

(हिन्दुस्तान की कहानी)

बारह-तेरह साल पहले इसके एकदम विपरीत जवाहरलाल ने यह भी लिखा था :

"कोई नेता शून्य में जादू की लकड़ी फेरकर जन-आंदोलन नहीं खड़ा कर सकता। हां, एक विशेषावस्था पैदा होने पर उससे लाभ उठा सकता है, उन अवस्थाओं से लाभ उठाने की तैयारी कर सकता है, लेकिन खुद उन अवस्थाओं को पैदा नहीं कर सकता।" (मेरी कहानी)

जब गांधी नेता बना तब वास्तविक स्थिति यह थी कि युद्ध के दौरान मेहनतकश जनता का जो शोषण हुआ, उससे वर्ग-संघर्ष तेज हो गया था; मजदूर, किसान तथा मध्य वर्ग के लोग अपने आर्थिक दबाव से स्वतः लड़ने पर आमादा हो गए थे। उस समय देश का जो वातावरण था सितंवर 1920 के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उसके बारे में अधिवेशन के अध्यक्ष ला. लाजपतराय ने यह मत व्यक्त किया था—"देश क्रांति के मुहाने पर खड़ा है, पर क्रांति हम नेताओं के स्वभाव और संस्कार के अनुकूल नहीं है।"

गांधी ने चर्खा कातने और सत्याग्रह करके जेल जाने का कार्यक्रम इसलिए रखा था कि जनता के जोश को सुधारवाद की परिधि में सीमित रखा जाये। लेकिन जब आंदोलन इस परिधि के बाहर फैला और उसने क्रांतिकारी रूप धारण किया तो गांधी ने चौरी-चौरा की घटना के बाद उसे चट बंद कर दिया। हमारी राष्ट्रीय एकता टूटी, देश में पस्तहिम्मती फैली और सांप्रदायिक दंगों का वातावरण बना। तब खुद जवाहरलाल ने इस स्थिति पर विक्षोभ व्यक्त करते हुए लिखा था अगर ध्येय स्पष्ट हो और लड़ाई का ढंग सही हो तो जनता हार के बावजूद लड़ने के लिए जल्दी ही दोबारा तैयार हो जाती है। लिखा था :

"असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नहीं है, बल्कि सिद्धांत और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नए सिरे से ताकत हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन 1921 और 1922 में हमारे सिद्धांत और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुंधला स्वराज्य, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी और अहिंसात्मक लड़ाई की एक खास पद्धति...जो हजारों लोग जेल गए थे, वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ ही दिनों में तय हो जायगा।" (मेरी कहानी)

परिस्थिति और घटनाओं की यह जो व्याख्या है मार्क्सवाद के अध्ययन की देन है और जवाहरलाल ने 'मार्क्सवाद' शीर्षक तले लिखा है : "मार्क्स इतिहास को इस तरह देखता था कि वह अनिवार्य वर्ग-संघर्ष की महान् प्रक्रिया है। इतिहास को इस दृष्टिकोण से देखने का तरीका, जो मार्क्स ने समझाया, इतिहास की भौतिक व्याख्या कहलाता है।" (विश्व इतिहास की झलक)

अपने वर्ग-अंतरविरोधों के बावजूद जनता में लोकप्रिय बनने और राष्ट्रीय आंदोलन में उसका सहयोग प्राप्त करने के लिए जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' और 'विश्व इतिहास की झलक' में इतिहास के इस भौतिकवादी दृष्टिकोण का अक्सर प्रयोग किया है, जिससे मार्क्सवाद का कम ज्ञान रखने वाले पाठक में जवाहरलाल को समाजवादी समझ लेने का भ्रम पैदा हो जाता है और जवाहरलाल का उद्देश्य भी पाठक में यह भ्रम पैदा करना ही था। लेकिन 'हिन्दुस्तान की कहानी' लिखते समय वैज्ञानिक तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लगभग त्याग दिया था।

इस पुस्तक का उद्देश्य उन्होंने अपनी विरासत को समझना, देश के अतीत की खोज लगाना और उसके संदर्भ में वर्तमान और भविष्य की समस्याओं का हल पेश करना बताया है; लेकिन साथ ही यह भी लिख दिया है : "इस विषय को देखने का मेरा ढंग लाजिमी तौर पर अक्सर एक निजी ढंग होगा।"

"निजी ढंग" का मतलब है व्यक्तिवादी ढंग, पतनोन्मुख बुर्जुआ का आदर्शवादी ढंग, अवैज्ञानिक ढंग। ढंग या दृष्टिकोण व्यक्ति का नहीं हमेशा वर्ग का होता है। जब दृष्टिकोण निजी अर्थात् अवैज्ञानिक हो तो उसके द्वारा जो व्याख्या की जायेगी, वह ऐसी ही होगी जैसी 'मध्य वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आगमन' शीर्षक तले देश की राजनैतिक स्थिति की की गई है। बुद्ध, अशोक और अकबर आदि की ऐतिहासिक भूमिका की व्याख्या भी इसी तरह अमूर्त और अवैज्ञानिक है।

मार्क्स के मतानुसार सामाजिक जीवन का भौतिक आधार—उसकी अंतर्वस्तु, आर्थिक विकास है जबकि संवैधानिक, राजनैतिक और धार्मिक-दार्शनिक विकास इस अंतर्वस्तु का सैद्धांतिक रूप है, उसका ऊपरी ढांचा है। मार्क्स इससे निष्कर्ष निकालता है कि आर्थिक आधार के बदलते ही पूरे का पूरा ऊपरी ढांचा कमोबेश बड़ी तेजी से बदल जाता है।

इस नियम के अनुसार जब कबीलों के विघटन के बाद व्यक्तिगत संपत्ति का उदय हुआ तो समाज में वर्ग-विभाजन और शोषण का औचित्य सिद्ध करने के लिए गीताकार ने आत्मा के पुनर्जन्म और कर्मवाद का सिद्धांत पहली बार प्रतिपादित किया। संक्षेप में कहा जाए तो गीता व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा का दर्शन है। लेकिन जवाहरलाल ने आर्थिक या वर्ग-आधार बताये बिना ही गीता के बारे में अमूर्त ढंग से लिखा है :

"बौद्ध-काल से पहले जब इसकी रचना हुई, तब से इसकी लोकप्रियता और

प्रभाव हटे नहीं हैं और आज भी हिन्दुस्तान में इसके लिए पहले जैसा आकर्षण बना हुआ है। विचार और फलसफे का हर एक संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है। संकट के वक्त जब आदमी का दिमाग संदेह से सताया हुआ होता है और अपने फर्ज के बारे में दुविधा उसे दो तरफ खींचती होती है, वह रोशनी और रहनुमाई के लिए गीता की तरफ और भी झुकता है, क्योंकि यह संकटकाल के लिए लिखी गई कविता है—राजनैतिक और सामाजिक संकटों के अवसर के लिए और उससे भी ज्यादा इंसान की आत्मा के संकटकाल के लिए।"

जवाहरलाल ने साहित्य और कला को भी साथ-साथ लिया है, लेकिन लिखने का ढंग वही अमूर्त और अवैज्ञानिक है। एक उदाहरण देखिए :

"कालिदास की एक बड़ी कविता है—'मेघदूत'। एक प्रेमी है, जिसे पकड़कर अपनी प्रेयसी से अलग कर दिया गया है, बरसात के मौसम में अपनी गहरी चाह का संदेश उसके पास पहुंचाने के लिए वह बादल से कहता है।" इसके बाद किसी अमरीकी विद्वान राइटर का हवाला है, जिसमें बताया गया है कि इस कविता के पहले आधे हिस्से में बाहरी प्रकृति का बयान है, दूसरे आधे में इंसानी दिल की तस्वीर है। और लिखा है, "कालिदास ने पांचवीं सदी में वह बात समझ ली थी, जिसे यूरोप ने उन्नीसवीं सदी तक न समझा।" बात यह है कि "दुनिया आदमी के लिए नहीं बनी और यह कि वह अपना रुतबा तभी हासिल करता है, जबकि वह इस जिंदगी की शान और कीमत समझ लेता है, जो इंसानी जिंदगी से जुदा है। कालिदास ने इस हकीकत को पा लिया था, यह उसकी दिमागी ताकत का शानदार सबूत है..."

जवाहरलाल किसी सिलवा लेवी, किसी बार्थ, किसी काडवेल तथा किसी मिसेज रीज डेविडस के हवाले खूब देते रहते हैं। लेकिन इन हवालों से वह खुद अथवा पाठक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचता और ये विदेशी लेखक खुद नहीं पहुंचे होते। उदाहरण के लिए अरविंद घोष ने 'विजन ऑफ इंडिया' में अपने ऐतिहासिक संदर्भ में मेघदूत की अत्यंत उपयुक्त व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है कि उस समय देश का एकीकरण हो रहा था और यक्ष बादल को जो संदेश देता है उसमें दक्षिण से उत्तर तक भारत की नदियों, पहाड़ों, मैदानों और ऋतुओं का वर्णन करके देश की महानता, विशालता और सौंदर्य को साकार बना दिया है और यों कालिदास ने एकीकरण की प्रक्रिया में सहायता की है।

एक ऐतिहासिक प्रक्रिया अपने ही समय में नहीं आने वाले वक्तों में भी सामाजिक जीवन को प्रभावित करती रहती है। इसलिए वर्तमान तथा भविष्य की कुछ समस्याएं इतिहास की देन होती हैं, जो अतीत की सही समझ द्वारा ही हल हो सकती हैं। लेकिन अगर अतीत का विश्लेषण अवैज्ञानिक और समझ गलत हो तो समस्याएं सुलझने के बजाय उलझ जाती हैं, भ्रम फैलते हैं और समूचे राष्ट्र को मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। जवाहरलाल ने समस्याओं को सुलझाने के बजाय उलटा

उलझाया है। उदाहरण लीजिए, लिखा है :

"औरंगजेब अपने मौजूदा जमाने को भी समझ न पाया, वह उलटी चाल चलने वाला आदमी था और अपनी सारी काबलियत और उत्साह के बावजूद उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मांध और नीरस आदमी था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था। हिन्दुओं पर पुराना और घृणित जजिया कर लगाकर और उनके बहुत-से मंदिरों को तुड़वाकर उसने अपनी बहुत बड़ी प्रजा को बुरी तरह नाराज कर लिया। उसने गर्वीले राजपूतों को भी, जो मुगल सल्तनत के खंभे थे, नाराज कर दिया। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए, जो हिन्दू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करने वाले लोग थे, लेकिन जिन्होंने दमन से बचने के लिए एक फौजी बिरादरी बना ली थी। हिन्दुस्तान के पश्चिमी समुद्र तट के करीब के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज कर लिया, जो प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे और जिनके यहां उस वक्त एक चमत्कारी सेना-नायक पैदा हो चुका था।"

ये वही दलीलें हैं, जो अंग्रेजों ने हमारी पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दू-मुसलमानों में नफरत फैलाने के लिए शामिल की थीं। नई बात अगर कुछ है तो यह है कि सिखों को हिन्दू और मुसलमानी विचारों के समन्वय की नुमाइंदगी करने वाले कहा गया है, जिसमें कोई तर्क नहीं, कोई वास्तविक आधार नहीं। मराठों में जो 'चमत्कारी सेना-नायक' पैदा हो चुका था, उसके बारे में आगे लिखा है :

"शिवाजी उभरती हुई हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतीक था और पुराने साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करता था, वह दिलेर था और उसमें नेतृत्व के बड़े गुण थे। उसने मराठों को एक मजबूत और संगठित फौजी दल का रूप दिया, उन्हें एक कौमी भूमिका दी और ऐसी ताकत बना दिया, जिसने मुगल सल्तनत को बिगाड़कर छोड़ा।"

हिन्दुस्तान विभिन्न जातियों का विशाल देश है और हर एक जाति का अपना एक विशेष सांस्कृतिक चरित्र है। अकबर, जहांगीर और शाहजहां के जमाने में जहां उद्योग-धंधों की उन्नति हो रही थी और व्यापार बढ़ रहा था, वहां इन विभिन्न जातियों का यह सांस्कृतिक चरित्र भी विकसित हो रहा था। लेकिन औरंगजेब के जमाने में सामंती अर्थव्यवस्था के भीतर इसके और विकसित होने की संभावना समाप्त हो गई थी। इसलिए इस अर्थव्यवस्था के विरुद्ध जातियों के विद्रोह वक्त का तकाजा थे। अगर मराठों के विद्रोह को हिन्दू राष्ट्रीयता का नाम दिया जाय, तो जाटों और सिखों के विद्रोह के बारे में क्या कहा जायगा? और खुशहाल खां खटक की रहनुमाई में पठानों ने औरंगजेब के खिलाफ जो विद्रोह किया, वह कौन-सी राष्ट्रीयता का विद्रोह था? यह ठीक है कि इन विद्रोहों के पीछे जातीयता की जो भावना थी, उसमें धार्मिक और सामंती तत्त्वों का भी समावेश था। लेकिन पुरानी सामंती अर्थव्यवस्था के टूटने और नई पूंजीवादी व्यवस्था के द्वारा उसका स्थान ग्रहण करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया की यह सिर्फ एक धुंधली-सी शुरूआत थी। अगर विदेशी हस्तक्षेप इस प्रक्रिया को

बीच ही में न रोक देता तो यह संघर्ष लंबा, बहुत लंबा चलता और इस संघर्ष में न सिर्फ सामंती अर्थव्यवस्था बल्कि उसका सामाजिक ढांचा—यह क्रूर वर्ण-व्यवस्था भी समाप्त होती और इसके खंडहरों पर एक सुंदर, सुडौल और वैज्ञानिक विचारों वाले नये भारत का निर्माण होता।

इतिहास की इस भौतिक व्याख्या के बजाय, जवाहरलाल ने व्याख्या का, जो निजी ढंग अपनाया, उससे प्रगतिवाद की नहीं प्रतिक्रियावाद की शक्तियों को ही बल मिलता है। वैसे यह निजी ढंग उनके वर्ग-स्वभाव और गांधी की प्रतिक्रियावादी नीतियों के अनुकूल ही था और वह अपने इस निजी ढंग के दोषों और सीमाओं को खूब समझते थे। इसी पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में लिखा है :

"जिस तरह किसी व्यक्ति की आशाओं और आशंकाओं के बीच सही समतौल पा लेना मुश्किल है, उसी तरह किसी आदमी के खयालों पर उसकी ख्वाहिशों की छाप रोकना भी मुश्किल है। हमारी ख्वाहिशें ऐसी दलीलों की तलाश में रहती हैं, जो उनके माफिक हों और वे उन सच्चाइयों या दलीलों की, जो उनसे मेल नहीं खातीं, अवहेलना की कोशिश करती हैं। मैं उस समतौल को हासिल करने की कोशिश करता हूं ताकि मैं चीजों को सही ढंग से देख सकू और काम के लिए सही बुनियाद पा लूं, फिर भी मैं जानता हूं कि मैं कामयाबी से कितनी दूर हूं और मैं उन विचारों और भावनाओं से, जिन्होंने मुझे बनाया है और जो अपने अदृश्य सींखचे से मुझे घेरे हुए हैं, छुटकारा नहीं पा सकता।"

इस आत्म स्वीकृति के बावजूद जवाहरलाल ने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद की बहुत बड़ी सेवा की, इसलिए जब तक संभव हो सकेगा, वह उन्हें हीरो बनाये रखेगा और उनकी हर बात की तारीफ करेगा। उदाहरण के लिए जवाहरलाल की मृत्यु के बाद एक भारतीय प्रकाशक द्वारा 'प्रोफाइल्स ऑफ नेहरू' नाम की एक अमरीकी पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें एक लेख उनकी ऐतिहासिक रचनाओं के बारे में भी है, जिसमें लेखक ने सार्वभौमिकता, नैतिकता और बुद्धिवाद के नुक्ते ढूंढ निकाले हैं और अंत में लिखा है कि "नेहरू अपने इतिहास के दर्शन में मानवता का और उसके बर्बरता से सभ्यता तक के विकास का प्रवक्ता है।"

इसी प्रकार संशोधनवादी रूसियों द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'नेहरूजी की स्मृति में' भी 'जवाहरलाल नेहरू इतिहासकार के रूप में' एक लेख है, जिसके अंत में कहा गया है :

"नेहरू के ऐतिहासिक ग्रंथ उनके प्रगतिशील ऐतिहासिक दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रमाण हैं। वे उनके वैज्ञानिक विचारों और बुनियादी राजनीतिक प्रवृत्तियों तथा जनतांत्रिक कार्यकलाप में, जो उन्हें भारत की स्वतंत्रता के अथक योद्धा और संप्रदायवाद तथा जातिवाद के प्रबल विरोधी के रूप में चित्रित करते हैं, एक निश्चित संबंध दिखाते हैं।"

परिशिष्ट-2

नेहरू ने लिखा था : जय जवाहरलाल की !

(यह लेख जवाहरलाल ने रामानंद चटर्जी द्वारा सम्पादित 'माडर्न रिव्यू' पत्रिका में लिखा था। लेखक का नाम चाणक्य दिया गया था)

—राष्ट्रपति जवाहरलाल की जय।—प्रतीक्षारत जनसमूह के बीच तेजी से गुजरते हुए 'राष्ट्रपति' ने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई, हाथ भी ऊपर उठकर अभिवादन की मुद्रा में जुड़ गए और पीताभ कठोर चेहरे पर मुस्कराहट खिल उठी। यह अत्यंत उत्साहपूर्ण व्यक्तिगत मुस्कराहट थी और हर्ष-ध्वनि के रूप में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

मुस्कराहट गुजर गई और चेहरा पुनः गंभीर, उदास तथा विशाल जनसमूह में जाग्रत भावना के प्रति उदासीन हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी मुस्कान तथा मुद्रा यथार्थ नहीं है, बल्कि जनसमूह की सद्भावना प्राप्त करने की चाल-भर है, जिसका वह नायक बना हुआ है। क्या सचमुच यही बात है?

फिर से देखें। एक विशाल जुलूस है, उसमें हजारों-लाखों व्यक्ति उसकी कार को घेरे आनंदातिरेक से हर्षध्वनि कर रहे हैं। वह कार की सीट पर अच्छी तरह संतुलन के साथ खड़ा है, सीधा और लंबा-सा, देवता की तरह, शांत और उत्तेजित भीड़ से अप्रभावित।

अचानक फिर वही मुस्कान तिर उठती है और अर्थपूर्ण हास्य बिखर उठता है, जिससे तनाव टूट जाता है और भीड़ भी हंसने लगती है। वह देव-तुल्य नहीं बल्कि साधारण मानव है, जिसे उन हजारों लोगों की मैत्री तथा निकटता प्राप्त है, जो उसे घेरे हुए हैं। भीड़ प्रसन्न हो उठती है, निश्छल मैत्री-भाव से उसे अपने हृदय में बैठा लेती है। लेकिन देखें, मुस्कराहट लुप्त हो चुकी है और चेहरा पुनः गंभीर और उदास हो गया है।

कुछ विचित्र प्रश्न

क्या यह सब इस सार्वजनिक व्यक्ति की सुविचारित चालमात्र है या स्वाभाविक प्रतिक्रिया है? शायद दोनों ही बातें सही हैं, क्योंकि अर्से से चली आ रही आदत भी प्रकृति बन जाती है। सबसे प्रभावशाली मुद्रा वह है, जिसमें बनावट कम मालूम होती है और जवाहरलाल ने तो पाउडर एवं रंग-रोगन के बिना ही अभिनय करना भली-भांति सीख रखा है। अपनी जानी-बूझी लापरवाही और अल्हड़ता का प्रदर्शन करते हुए वह सार्वजनिक मंच पर पूर्ण कलात्मकता के साथ अभिनय करता है। यह उसे और देश को किस ओर ले जा रही है? इस दिखावटी प्रयोजनहीनता के पीछे उसका उद्देश्य क्या है? उसके इस मुखौटे के पीछे क्या छिपा है, कौन-सी आकांक्षाएं हैं, कौन-सी इच्छा-शक्ति और क्या-क्या अतृप्त कामनाएं हैं?

ये प्रश्न हर सूरत में रोचक लगेंगे क्योंकि जवाहरलाल एक ऐसा व्यक्ति है, जो रुचि और ध्यान को स्वतः आकृष्ट करता है। लेकिन उनका हमारे लिए विशेष अर्थ है, क्योंकि वह भारत के वर्तमान और संभवतः भविष्य से भी बंधा हुआ है और उसमें भारत को भारी लाभ या क्षति पहुंचाने की क्षमता है। अतः हमको इन प्रश्नों का उत्तर खोजना ही होगा।

करीब दो वर्षों से वह कांग्रेस का अध्यक्ष बना हुआ है और कुछ लोगों का खयाल है कि वह कांग्रेस कार्यसमिति में सिर्फ एक शिविरानुयायी है जिस पर दूसरों का नियंत्रण रहता है। लेकिन फिर भी वह जनता में और जनता के सभी वर्गों में लगातार अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एवं प्रभाव बढ़ाता ही चला जा रहा है।

वह किसान से लेकर मजदूर तक, जमींदार से लेकर पूंजीपति तक, व्यापारी से लेकर कंगाल तक, ब्राह्मण से लेकर अछूत तक, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई और यहूदी तक—जो भारतीय जीवन के विविध अंग हैं—पहुंचता है। इन सभी से वह भिन्न-भिन्न भाषा बोलता है क्योंकि वह उनको अपने साथ लाने की चेष्टा करता रहता है।

शक्ति की इच्छा

अपनी इस आयु में भी विचित्र स्फूर्ति एवं शक्ति से वह इस विशाल देश में भी चारों ओर भ्रमण कर चुका है और सर्वत्र उसका असाधारण सार्वजनिक स्वागत किया गया, उत्तर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक वह विजेता सीज़र महान् की तरह अपने पीछे गौरव के चिह्न छोड़ता हुआ घूमा है। क्या यह सब उसके लिए हल्का मनोविनोद मात्र है या इसके पीछे कोई गहरा रहस्य है, जिसे वह स्वयं नहीं जानता? क्या ये उसकी महत्त्वाकांक्षा के लक्षण हैं, जिनके बारे में उसने स्वयं आत्म-कथा में लिखा है और जो उसे जनसमूहों के बीच घुमा रही है तथा अपने आपसे मन ही मन यह कहला रही है कि मैंने इस मानवीय ज्वार को अपने हाथों में लिया और अपना आदेश आकाश के आर-पार सितारों पर लिख दिया।

अगर उसका दिमाग बदल जाए, तो क्या होगा? जवाहरलाल जैसा महान् एवं प्रभावशाली वक्ता लोकतंत्र में अरक्षित है। वह स्वयं को लोकतंत्रवादी एवं समाजवादी मानता है और इसमें कोई संदेह भी नहीं कि वह इस बारे में ईमानदार है, पर हर मनोवैज्ञानिक जानता है कि मस्तिष्क हृदय का दास है और युक्तियों को हमेशा ही गैर-जिम्मेदाराना आकांक्षाओं एवं इच्छाओं के अनुकूल ढाला जा सकता है।

जरा-सा झटका लगा कि वह तुरंत ही मंथर लोकतंत्र के रथ को एक ओर डालकर तानाशाह बन बैठेगा। वह लोकतंत्र और समाजवाद की भाषा एवं नारे तो इस स्थिति में भी इस्तेमाल कर सकता है क्योंकि हम सभी जानते हैं कि किस तरह फासिज्म इसी भाषा पर पनपा और पुष्ट होकर लोकतंत्र की हत्या कर चुका है।

जवाहरलाल फासिस्ट तो कतई नहीं है—न विचार से और न ही स्वभाव से। वह इतना अधिक कुलीनतावादी है कि फासिज्म की कठोरता और अश्लीलता स्वीकार नहीं कर सकता, उसका चेहरा तथा वाणी हमसे यह कहते प्रतीत होते हैं—"सार्वजनिक स्थानों पर व्यक्तिगत चेहरे, व्यक्तिगत स्थानों पर सार्वजनिक चेहरों से अधिक शोभनीय तथा सुंदर लगते हैं।"

फासिस्ट चेहरा सार्वजनिक चेहरा है और गैर-सार्वजनिक अथवा निजी स्थलों पर शोभा नहीं देता। जवाहरलाल का चेहरा और वाणी—दोनों ही व्यक्तिगत हैं। यह शत-प्रतिशत सही है कि भीड़ में भी उसकी आवाज भीड़ के हर व्यक्ति से अलग-अलग घरेलू तौर पर बोलती प्रतीत होती है।

रहस्यपूर्ण

उसकी वाणी सुनकर या भावुक चेहरा देखकर आदमी यह सोचने लगता है कि इसके पीछे न जाने क्या छिपा है, क्या-क्या इच्छाएं, विचार, विचित्र ग्रन्थियां, दमित होकर शक्ति में ढली हुई आकांक्षाएं और लालसाएं छिपी हैं?

विचार-शृंखला सार्वजनिक वक्तृता में उसे सहेजे रखती है पर शेष समय में उसका चेहरा खोया-खोया-सा लगता है, क्योंकि उसका मन दूर कहीं कल्पनाओं और योजनाओं में भटक जाता है, अपने मानस-लोक के प्राणियों से अश्रव्य वार्तालाप करता रहता है, जिसके कारण संगी-साथियों का भी ध्यान नहीं रहता। क्या वह अपनी तूफानी जीवन-यात्रा के बीच बिछुड़े मनुष्यों की याद करता है या फिर सफलतापूर्ण भविष्य का दिवास्वप्न देखता रहता है? इसे भली-भांति समझ लेना चाहिए कि उसने जिस रास्ते पर कदम बढ़ाए हैं, उस पर विश्राम की कोई गुंजाइश नहीं होती है और यहां तक कि विजय स्वयं भी बोझिल होती है। लारेंस ने अरबों को संबोधित करते हुए कहा है—"विद्रोह के लिए विश्रामालय नहीं हो सकते और न ही आनंद के लाभांश प्राप्त होते हैं।"

तानाशाह के गुण

जवाहरलाल फासिस्ट नहीं हो सकता। लेकिन उसमें तानाशाह बनने के लिए

जरूरी सभी गुण हैं—व्यापक लोकप्रियता, सुनिर्धारित उद्देश्य के प्रति सजगता, शक्ति, गर्व, योग्यता, संगठन, कुशलता, कठोरता, असहिष्णुता तथा कमजोर तथा अकर्मण्य के विरुद्ध थोड़ी-बहुत घृणा।

उसकी गरममिजाजी सर्व-ज्ञात है, जिसे वह कोशिश करके भी नहीं छिपा पाता क्योंकि अधरों की वक्रता गुस्से को जाहिर कर ही देती है, काम पूरा कराने की तीव्र आकांक्षा, अरुचिकर अथवा नापसंद चीजों को दूर हटाकर नव-निर्माण का उतावलापन लोकतंत्र की मंथर प्रक्रिया को काफी अर्से तक बर्दाश्त नहीं कर सकते।

वह अकड़ कायम रखता है, पर अपनी इच्छानुकूल उसे मोड़ भी सकता है, सामान्य काल में वह कुशल और सफल कार्याधिकारी मात्र रहेगा; पर क्रांतिकारी काल में सीज़रवाद उसके निकट खड़ा रहता है। तो क्या यह संभव नहीं है कि जवाहरलाल स्वयं को सीज़र मानने लगे?

खतरा

यहीं भारत और जवाहरलाल नेहरू के लिए खतरा उपस्थित हो जाता है क्योंकि भारत को स्वाधीनता सीज़रवाद द्वारा नहीं प्राप्त होगी, बल्कि इससे तो देश की मुक्ति में अधिक विलंब होगा।

जवाहरलाल लगातार दो वर्ष से कांग्रेस का अध्यक्ष है और इस बीच उसने अपने आपको इतना उपयोगी बना लिया है कि कई लोगों ने उसे तीसरी बार पुनः अध्यक्ष चुनने का सुझाव पेश किया है। लेकिन भारत तथा स्वयं जवाहरलाल के लिए इससे अधिक हानिकर बात और कोई नहीं हो सकती। उसे तीसरी बार अध्यक्ष चुनकर हम कांग्रेस की कीमत पर एक व्यक्ति को ऊपर चढ़ायेंगे और लोग सीज़रवाद की दिशा में सोचने लगेंगे।

इससे जवाहरलाल में गलत प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलेगा और उसमें प्रवंचना एवं गर्व की मात्रा बढ़ेगी, वह मान बैठेगा कि वही इस भार को संभाल सकता है और भारत की समस्याओं को हल कर सकता है। स्मरण रहे कि पद के प्रति उदासीनता के दिखावे के बावजूद वह विगत 17 वर्षों से लगातार कांग्रेस में किसी न किसी महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन रहता चला आ रहा है। वह अपने आपको अनिवार्य मानता होगा, यह एक बुरी बात है। भारत उसे तीसरी बार कांग्रेस का अध्यक्ष चुनकर लाभ में नहीं रहेगा।

इसका एक व्यक्तिगत कारण भी है। लफ्फाजी और बढ़ी-चढ़ी बातों के बावजूद जवाहरलाल इस समय थका हुआ और अस्वस्थ है। अतः वह अध्यक्ष रहा, तो उसकी स्थिति लगातार बिगड़ती चली जाएगी। वह आराम नहीं कर सकता क्योंकि शेर पर सवारी करने वाला कभी उतर नहीं सकता। लेकिन हम तो उसे कम-से-कम भटकने से और मानसिक ह्रास से बचा ही सकते हैं, जिसका मूल कारण भारी दायित्व एवं कार्यभार है। हमको उससे भविष्य में काफी आशा है। अतः हमें इस आशा को और जवाहरलाल को भी बिगड़ने नहीं देना चाहिए। उसमें प्रवंचना, जैसी भी हो, काफी मात्रा में है। इसे दूर करना चाहिए। हमें सीज़रों की जरूरत नहीं है।

वसीयतनामा

भारतीय जनता से मुझे इतना प्रेम व स्नेह मिला है कि मैं कुछ भी क्यों न करूं, इस प्रेम व स्नेह के तनिक अंश का भी प्रतिदान मैं नहीं दे सकता। असल में प्रेम जैसी अमूल्य चीज का कोई प्रतिदान हो भी नहीं सकता है। बहुत लोग सराहे गए हैं, कुछ को श्रद्धा मिली है, पर भारतीय जनता के सभी वर्ग के लोगों का स्नेह मुझे इतना मिला कि मैं उसके बोझ से दब गया हूं, अभिभूत हो गया हूं। मैं केवल यही आशा प्रकट कर सकता हूं कि आगे जितने वर्ष भी जीऊं अपने लोगों के प्रेम के अयोग्य न बनूं। अपने अनगिनत साथियों और सहयोगियों के प्रति मेरी कृतज्ञता और भी गहरी है। हम महान कार्यों में साथी रहे हैं और इनकी सफलताएं और इनके दुख, जो उनके साथ निश्चित रूप से जुड़े ही रहते हैं, के हम हिस्सेदार हैं।

मैं पूरी गंभीरता के साथ यह घोषित करना चाहता हूं कि मेरी मृत्यु के बाद मेरे लिए कोई धार्मिक अनुष्ठान न किया जाए। इस तरह के अनुष्ठानों में मेरी कोई आस्था नहीं है। और रस्मी तौर पर भी इन्हें झेलना पाखंड होगा और यह अपने लोगों को और दूसरों को धोखे में डालने का एक प्रयास होगा।

मैं चाहता हूं कि मेरे मरने के बाद मेरा दाह--संस्कार हो। अगर मैं विदेश में मरूं, तो वहीं मेरा दाह-संस्कार किया जाए, पर मेरी अस्थियां इलाहाबाद लाई जाएं। इनमें से मुट्ठी-भर गंगा में प्रवाहित की जाएं और इनके अधिकांश हिस्से का नीचे लिखे ढंग से उपयोग किया जाए। इन अस्थियों का कोई भी अंश बचाकर या संरक्षित रूप में न रखा जाए।

मेरी मुट्ठी-भर भस्मी इलाहाबाद की गंगा में प्रवाहित करने की मेरी इच्छा के पीछे, जहां तक मेरा संबंध है, कोई धार्मिक भावुकता नहीं है। बचपन से ही इलाहाबाद की गंगा और यमुना से मेरा लगाव रहा है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गई है वैसे-वैसे यह लगाव बढ़ता ही गया है। मैंने मौसम बदलने के साथ इनके बदलते रंगों और रुखों को देखा है और इतिहास, किंवदंतियों, परंपराओं, गीतों और कहानियों की उन सभी बातों पर अक्सर विचार किया है, जो युगों से इनसे जुड़ती आई हैं और उनकी जलधारा का अंग बन चुकी हैं।

गंगा विशेषकर भारत की वह नदी है, जिसे जनता प्यार करती है और जिसके इर्द-गिर्द उसकी जातीय स्मृतियां, उसकी आशाएं, आकांक्षाएं, उसके विजयगीत, उसकी विजय और पराजय का तानाबाना जुड़ा हुआ है। गंगा हमारी युग-युग पुरानी सभ्यता व संस्कृति का प्रतीक रही है, हर समय बदलती और हर समय बहती हुई। फिर भी यह वही गंगा है। वह मुझे हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों और घाटियों की याद दिलाती है, जिससे मेरा लगाव और प्यार बहुत ज्यादा रहा है। साथ ही गंगा मुझे नीचे के उन ऐश्वर्यशाली विराट मैदानों की याद दिलाती है, जहां मेरा जीवन और कार्य-क्षेत्र प्रसारित रहा। सुबह की सूर्य-किरणों में मुस्कराती और नाचती हुई जब सन्ध्या की छाया उतरती है, उस समय कलोंच लिए हुए और उदास और रहस्य से ओत-प्रोत, जाड़ों में पतली, धीमी और भव्य धारा के रूप में बहती हुई, वर्षा में भयंकर गर्जना करती हुई और लगभग समुद्र की तरह विराट वक्षवाली और साथ ही समुद्र की तरह विनाश की शक्ति का कुछ अंश रखती हुई गंगा मेरे लिए भारत के अतीत का एक प्रतीक और स्मृति के रूप में रही है, जो वर्तमान काल में आकर बहती है और भविष्य के महासागर में बहकर जाती है।

यद्यपि मैंने अतीत की बहुत-सी परम्पराओं का और प्रथाओं का वर्जन किया है और मैं चाहता हूं कि भारत उन सभी जंजीरों से, जिन्होंने उसे कस रखा है और संकुचित करती हैं, उसकी जनता में अलगाव पैदा करती हैं, और उनमें से बहुत बड़ी संख्या का दमन करती हैं और देह व मन के मुक्त विकास में बाधा खड़ी करती हैं, छुटकारा कर ले। यद्यपि मैं यह सब चाहता हूं, फिर भी मैं अपने को अतीत से पूरी तरह काटकर अलग कर देना नहीं चाहता। उस महान् विरासत व परम्परा पर, जो हमारी है, मुझे गर्व है। मैं इस बात के प्रति भी जागरूक हूं कि मैं भी हम सभी की तरह उस अटूट शृंखला की एक कड़ी हूं, जो इतिहास के उषाकाल से युगों-युगों से चली आ रही है। मैं इस शृंखला को तोड़ना नहीं चाहूंगा, क्योंकि मैं इसे धरोहर मानता हूं और इससे प्रेरणा प्राप्त करता हूं अपनी इस इच्छा के साथ और हमारी सांस्कृतिक विरासत के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में यह अनुरोध करता हूं कि मेरी मुट्ठी-भर भस्मी इलाहाबाद की गंगा में प्रवाहित की जाए, जो गंगा में प्रवाहित होकर उस महासागर में जाए, जो हमारे देश के तटों को पखारता है।

मेरी भस्मी का अधिकांश हिस्सा दूसरी तरह काम में लाया जाए। मैं चाहता हूं कि इसे आकाश में ऊंचे एक विमान में ले जाया जाए और खेतों के ऊपर जहां हमारे किसान मेहनत करते हैं, बिखराया जाए ताकि वह भारत की धूल और मिट्टी में सन जाए और भारत का एक अनचीन्हा अंश हो जाए।

21 जून, 1954

—जवाहरलाल नेहरू

गांधी का पत्र

सेगांव
15 जुलाई, 1936

प्रिय जवाहरलाल,

1. आशा है तुमको 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के पत्र के बारे में मेरा तार मिला होगा। मैंने कल प्राप्त करके उसे पूरा पढ़ा। इसके विषय में मुझे कभी किसी ने नहीं लिखा। पत्र को पढ़कर मेरी राय पक्की हुई है कि तुम्हें इस पर मान-हानि की कानूनी कार्रवाई करनी चाहिए।

2. यदि तुम मुझे गलत न समझो तो मैं चाहूंगा कि तुम मुझे नागरिक स्वातंत्र्य-संघ से मुक्त रखो। फिलहाल मैं किसी राजनैतिक संस्था में शामिल होना पसन्द नहीं करता और किसी पक्व सत्याग्रही के उसमें शरीक होने का कोई अर्थ भी नहीं : परन्तु इस संघ में मेरे सम्मिलित होने-न-होने के परिपक्व विचार के बाद मेरी यह राय पक्की हुई है कि सरोजिनी को या कहो कि किसी भी सत्याग्रही को अध्यक्ष बनाने में भूल होगी। मेरा अव यह मत है कि अध्यक्ष कोई प्रसिद्ध वैधानिक कानूनी वकील होना चाहिए। यदि यह बात तुम्हें न जंचती हो तो तुम्हें एक टिप्पणी लेखक को, जो कानून भंग करने वाला न हो, रखना चाहिए। मैं यह भी कहूंगा कि सदस्यों की संख्या सीमित रखो। तुम्हें संख्या के बजाय गुणों की आवश्यकता है।

3. तुम्हारा पत्र मर्मस्पर्शी है। तुम ऐसा अनुभव करते हो कि तुम्हारे साथियों में तुम्हारे जैसी हिम्मत और साफगोई नहीं है। परिणाम विनाशकारी हुआ है। मैंने सदा उन्हें समझाया है कि वे तुमसे साफ-साफ और निडर होकर बात कर लें। परन्तु साहस न होने के कारण, जब कभी वे बोले, भद्दी तरह से बोले और तुम्हें उत्तेजना हुई। मैं तुम्हें बताता हूं कि वे तुमसे डरते रहे, क्योंकि तुम्हें उनसे चिड़चिड़ाहट और अधीरता हो जाती हैं। वे तुम्हारी झिड़कियों से और तुम्हारे हाकिमाना ढंग पर कुढ़ते रहे और सबसे अधिक इस बात से कि उनके खयाल से तुम अपने-आपको अचूक और श्रेष्ठ ज्ञान वाला समझते हो। वे महसूस करते हैं कि तुम उनके साथ शिष्टता से पेश नहीं आये और समाजवादियों के उपहास और गलत अर्थ लगाने से तुमने उनकी कभी रक्षा नहीं की।

तुम्हें शिकायत है कि उन्होंने तुम्हारी प्रवृत्तियों को हानिकारक बताया। इसका

यह अर्थ नहीं था कि तुम हानिकारक हो। उनके पत्र में तुम्हारे गुणों या तुम्हारी सेवाओं के बखान करने का कोई मौका नहीं था। वे पूरी तरह जानते हैं कि तुममें जीवट है और आम जनता और देश के युवकों पर तुम्हारा काबू है। वे जानते हैं कि तुम्हें छोड़ा नहीं जा सकता और इसलिए वे झुक जाना चाहते हैं।

मुझे यह सारा मामला दुखद लगता है, साथ ही हास्यजनक भी। इसलिए मैं चाहता हूं कि तुम सारी बात विनोद-वृत्ति से देखो। मुझे इस बात की चिंता नहीं कि तुम ए. आई. सी. को अपने विश्वास में लो, परन्तु मैं नहीं चाहता कि उस पर तुम्हारे घरेलू झगड़े ठीक करने का या तुममें और उनमें चुनाव करने का असह्य भार डाला जाय। तुम कुछ भी करो, उनके सामने बनी-बनाई बातें ही रखनी चाहिए।

तुम इस बात पर रोष क्यों करते हो कि तमाम समितियों में उनका बहुमत प्रकट हो। क्या यह अत्यन्त स्वाभाविक चीज नहीं है? तुम उनके सर्वसम्मत चुनाव से पदारूढ़ हो, लेकिन अभी तक सत्ता तुम्हारे पास नहीं है। तुम्हें पदारूढ़ करना तुम्हें शीघ्र सत्तारूढ़ करने का प्रयत्न था। और किसी तरह ऐसा न होता। जो हो मेरे दिमाग में यही बात थी, जब मैंने कांटों के ताज के लिए तुम्हारा नाम सुझाया था। सिर पर घाव हो जायं तो भी इसे पहने रहो। समिति की बैठकों में फिर से अपनी विनोदप्रियता दिखाओ। तुम्हारा अत्यन्त सामान्य स्वरूप होना चाहिए, न कि एक चिन्तामग्न क्षुब्ध व्यक्ति का, जो जरा-जरा-सी बात पर उबल पड़ने को तैयार हो।

काश तुम मुझे तार से खबर दोगे कि मेरा पत्र पढ़ लेने के बाद तुम्हें उतनी ही प्रफुल्लता अनुभव हुई जितनी लाहौर में नववर्ष के दिन हुई थी, जब तुम तिरंगे झंडे के चारों ओर नाचते बताये गए थे। अपने गले को भी तो तुम्हें मौका देना ही चाहिए।

मैं अपना बयान फिर देख रहा हूं। मैंने निश्चय किया है कि जब तक तुम इसे देख न लो, मैं इसे प्रकाशित न करूं।

मैंने यह भी निर्णय किया है कि हमारे पत्र-व्यवहार को महादेव के सिवा और कोई न देखे।

सस्नेह;
बापू

सुभाषचन्द्र बोस का पत्र

जीलागोरा पो. आ.
जिला मानभूमि; बिहार
28 मार्च, 1939

प्रिय जवाहर,

मुझे लगता है कि तुम कुछ समय से मुझे बहुत ज्यादा नापसंद करने लगे हो। यह मैं इसलिए कहता हूं कि कोई भी बात, जो मेरे विरुद्ध पड़ती हो, उसे तुम बड़े उत्साह से ग्रहण कर लेते हो और मेरे पक्ष में जाने वाली बातों की उपेक्षा करते हो। मेरे राजनैतिक विरोधी, जो कुछ मेरे खिलाफ कहते हैं, उसे तुम मान लेते हो, किन्तु तुम अपने खिलाफ कही जा सकने वाली बातों के प्रति करीब-करीब अपनी आंखें बन्द कर लेते हो। मैं कथन को आगे स्पष्ट करने की कोशिश करूंगा।

मेरे लिए यह एक पहेली ही है कि तुम मुझे इतना अधिक नापसंद क्यों करने लगे हो। जहां तक मेरा संबंध है, जब से मैं सन् 1937 में नजरबन्दी से बाहर आया हूं, मैं व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में तुम्हारा बहुत अधिक लिहाज और खयाल रखता आ रहा हूं। राजनैतिक दृष्टि से मैंने तुम्हें अपना बड़ा भाई और नेता माना है, अकसर तुम्हारी सलाह लेता हूं। पिछले साल जब तुम यूरोप से वापस आये तो मैं तुम्हारे पास इलाहाबाद आया और पूछा कि अब तुम हमें क्या नेतृत्व दोगे। आम तौर पर, जब मैं तुम्हारे सामने इस रूप में आया तो तुम्हारे जवाब अस्पष्ट और अनिश्चित रहे। उदाहरण के लिए, गत वर्ष जब तुम यूरोप से लौटे तो तुमने मुझे यह कहकर टाल दिया कि तुम गांधीजी से परामर्श करोगे और उसके बाद मुझे बताओगे। जब हम वर्धा में मिले, तब तुम गांधीजी से मिल लिए थे, किन्तु तुमने मुझे कुछ भी निश्चित नहीं बताया। बाद में तुमने कार्यसमिति के सामने कुछ प्रस्ताव पेश किये, जिनमें नया कुछ नहीं था और न देश को कोई नेतृत्व दिया गया था।

अध्यक्ष पद के पिछले चुनाव के बाद एक कटु विवाद छिड़ गया और उसके दौरान बहुत-सी बातें कही गईं—कुछ मेरे हक में और कुछ मेरे खिलाफ। तुम्हारे उद्‌गारों और बयानों से हरेक मुद्दे का मेरे विरुद्ध अर्थ लगाया गया। दिल्ली के एक भाषण में तुमने यह कहा बताया कि तुम मेरे द्वारा या मेरे पक्ष में हुए चुनाव प्रचार को

पसंद नहीं करते। मैं नहीं जानता कि तुम्हारे मन में ठीक-ठीक क्या था, किन्तु तुमने इस तथ्य को बिलकुल ही भुला दिया कि मेरी चुनाव अपील डॉ. पट्टाभि की अपील पत्रों में छपने के बाद ही जारी हुई थी। जहां तक चुनाव-प्रचार का ताल्लुक है, तुमने जाने या अनजाने इस तथ्य को नजरअंदाज किया कि दूसरे पक्ष का चुनाव-प्रचार कहीं ज्यादा बढ़ा-चढ़ा था। और डा. पट्टाभि के लिए मत प्राप्त करने में कांग्रेस मंत्रिमंडलों की मशीनरी का पूरा-पूरा उपयोग किया गया। दूसरे पक्ष के पास नियमित संगठन था (गांधी सेवा संघ, कांग्रेसी मंत्रिमंडल, और शायद चरखा संघ और अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ भी) जिसे तुरन्त गतिमान कर दिया गया। इसके अलावा, सभी बड़े-बड़े नेता और तुम भी मेरे खिलाफ थे—महात्मा गांधी का नाम और प्रतिष्ठा दूसरे पक्ष के साथ थी—और अधिकतर प्रदेश कांग्रेस कमेटियां उसके हाथों में थीं। उन सबके खिलाफ मेरे पास क्या था? मैं अकेला खड़ा था? मुझे व्यक्तिशः पता है—क्या तुम्हें मालूम नहीं कि कई जगह चुनाव-प्रचार डॉ. पट्टाभि के लिए नहीं गांधीजी और गांधीवाद के लिए हुआ, हालांकि अनेक आदमियों ने ऐसे मिथ्या प्रचार के वशीभूत होने से इन्कार कर दिया। फिर भी, एक मार्च की सार्वजनिक सभा में खड़े होकर, तुमने ऐसे आधार पर मेरी निन्दा करने की कोशिश की, जो बिलकुल गलत प्रतीत होता है।

अब त्यागपत्रों की बात ले लो। बारह सदस्यों ने त्यागपत्र दिये। उन्होंने एक स्पष्ट पत्र लिखा—शिष्ट पत्र था वह, जिसमें उन्होंने अपनी स्थिति को बिलकुल स्पष्ट कर दिया। मेरी बीमारी का खयाल करके उन्होंने मेरे बारे में एक भी कटु शब्द का प्रयोग नहीं किया, हालांकि वे चाहते तो मेरी प्रतिकूल आलोचना कर सकते थे। किन्तु तुम्हारा बयान—उसके बारे में मैं क्या कहूं! मैं कटु भाषा का प्रयोग नहीं करूंगा और केवल यही कहूंगा कि वह तुम्हारे लायक नहीं था (मुझे बताया गया है कि तुम अपने बयान को मोटे रूप में त्यागपत्र के भीतर समावेश कराना चाहते थे, किन्तु यह स्वीकार नहीं किया गया) तुम्हारे बयान से ऐसा असर पड़ता है कि अन्य बारह सदस्यों की तरह तुमने भी त्यागपत्र दे दिया है, किन्तु इस समय तक आम जनता के सामने तुम्हारी स्थिति एक पहेली बनी हुई है। जब कोई संकट पैदा होता है तो अक्सर तुम इस पक्ष या उस पक्ष में अपनी राय नहीं बना पाते और नतीजा यह होता है कि जनता को तुम दो घोड़ों पर सवारी करते हुए दिखाई देते हो।

मैं फिर तुम्हारे 22 फरवरी के वक्तव्य पर आता हूं। तुम्हारा खयाल है कि तुम जो कहते हो या करते हो, उसमें बहुत-सी युक्ति-युक्त और संगत रहते हो, किन्तु विभिन्न अवसरों पर तुम्हारे रुख से अक्सर लोग स्तब्ध और आश्चर्यचकित रह जाते हैं। कुछ उदाहरण ले लो। 22 फरवरी के अपने वक्तव्य में तुमने कुछ कारण दिये। उन कारणों की 26 जनवरी को अल्मोड़ा से जारी किये अपने वक्तव्य में दिये गये कारणों से तुलना करो। तुमने स्पष्टतः अपना आधार बदल लिया। फिर कुछ बम्बई के मित्रों ने मुझसे कहा कि तुमने उनसे पहले कहा था कि तुम्हें मेरे अध्यक्ष-पद के

लिए खड़े होने में कोई एतराज नहीं है, बशर्ते कि मैं वाम-पक्ष के उम्मीदवार के रूप में खड़ा हो जाऊं।

अल्मोड़ा के बयान को तुमने यह कहकर खत्म किया था कि हमको व्यक्तियों को भुला देना चाहिए और केवल सिद्धान्तों और अपने ध्येय को ही याद रखना चाहिए। तुम्हें कभी यह खयाल नहीं आया कि व्यक्तियों को भुला देने की बात तुम तभी कहते हो, जब कुछ खास व्यक्तियों का खयाल सामने होता है। जब सुभाष बोस दुबारा चुने जाने के लिए खड़ा होता है, तो तुम व्यक्तियों की उपेक्षा करते हो और सिद्धांतों आदि की दुहाई देते हो। जब मौलाना आजाद पुनः निर्वाचन के लिए खड़े होते हैं तो तुम्हें लम्बा प्रशंसागीत लिखने में कोई संकोच नहीं होता। जब मामला सुभाष बोस और सरदार पटेल तथा दूसरे के बीच होता है तो सबसे पहले सुभाप बोस को अपने व्यक्तिगत प्रश्न को खुलासा करना चाहिए। जब शरत् बोस त्रिपुरी में कुछ बातों की शिकायत करते हैं (उन लोगों के रवैये और व्यवहार की शिकायत करते हैं, जो अपने को महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी कहते हैं) तो तुम्हारे खयाल से वह व्यक्तिगत प्रश्नों के स्तर पर उतर आते हैं, जबकि उन्हें अपने को सिद्धान्तों और कार्यक्रमों तक ही सीमित रखना चाहिए था। मैं स्वीकार करता हूं कि मेरा तुच्छ दिमाग तुम्हारी संगतता को समझने में असमर्थ है।

अब मैं व्यक्तिगत प्रश्न की चर्चा करूंगा, जो जहां तक मेरा संबंध है, तुम्हारी निगाह में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। तुम्हारा आरोप है कि मैंने अपने बयानों में अपने सहयोगियों के प्रति अन्याय किया है। प्रकटतः तुम उनमें नहीं हो और अगर हो मैंने कोई आरोप लगाया था तो वह दूसरों के खिलाफ था अतः तुम अपनी ओर से नहीं बल्कि दूसरों की वकालत कर रहे हो। एक वकील आमतौर पर अपने मुवक्किल से ज्यादा वाचाल होता है। इसलिए तुमको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जब इस प्रश्न पर मैंने त्रिपुरी में सरदार पटेल से और राजेन्द्र बाबू और मौलाना से बातचीत की तो उन्होंने मुझे यह आश्चर्यजनक खबर सुनाई कि मेरे विरुंद्ध उनकी मुख्य शिकायत कांग्रेस कार्यसमिति की गत जनवरी की बारदोली की बैठक से पहले की अवधि से सम्बन्ध रखती है। जवाब में जब मैंने यह कहा कि जनता में आम खयाल यह है कि मेरे खिलाफ शिकायत मेरे 'चुनाव वक्तव्यों' से ताल्लुक रखती है तो उन्होंने कहा कि यह तो अतिरिक्त आरोप है। आखिर इसका यह मतलब हुआ कि तुम्हारे मुवक्किल 'लांछन के मामले' को उतना महत्व नहीं देते, जितना तुम उनके वकील की हैसियत से देते हो। त्रिपुरी में चूंकि सरदार पटेल और अन्य लोग कांग्रेस महासमिति की बैठक में शामिल होने के लिए चले गए और वादा करके भी बैठक के बाद वापस नहीं लौटे, मैं इस वारे में और बातचीत नहीं कर सका, ताकि यह मालूम करता कि कार्यसमिति की बारदोली की बैठक के बाद की कौन-सी घटनाओं से आपका आशय है। किन्तु मेरे भाई शरत् ने इस बारे में सरदार पटेल से बात

की थी तो उन्होंने शरत् को बताया कि उनको मुख्य शिकायत मेरे उस रवैये पर है, जो मैंने कांग्रेस महासमिति की दिल्ली की बैठक में, सितम्बर 1938 में अपनाया, जबकि समाजवादी बैठक से उठकर चले गये थे। इस आरोप पर मुझे और मेरे भाई दोनों को बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु प्रसंगवश उससे यह भी पता चल गया कि सरदार पटेल और दूसरों के मन में 'लांछन वाले मामले' का उतना महत्व नहीं है, जितना महत्व उसे तुमने दिया है। असल में, जब मैं त्रिपुरी में था, कई प्रतिनिधियों ने मुझे बताया (मैं तुम्हें बता दूं कि वे मेरे समर्थक नहीं थे) कि 'लांछन वाले मामले' को तो उस समय तक करीब-करीब भुला ही दिया गया था, जब तक कि तुमने अपने बयानों और उद्‌गारों द्वारा इस विवाद को पुनः सजीव नहीं कर दिया। और इस बारे में मैं तुम्हें बताऊं कि कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव के बाद कार्यसमिति के बारह भूतपूर्व सदस्यों ने जितना एक साथ मिलकर नहीं किया, उससे अधिक तुमने मुझे जनता की निगाह में गिराने के लिए किया है। अवश्य ही, अगर मैं सचमुच इतना दुष्ट हूं तो यह तुम्हारा अधिकार ही नहीं, बल्कि कर्त्तव्य भी हो जाता है कि तुम जनता के सामने मेरा पर्दाफाश करो। किन्तु शायद तुमको यह प्रतीत होगा कि जो दुष्ट व्यक्ति तुम्हारे समेत बड़े-बड़े नेताओं, महात्मा गांधी और आठ प्रान्तीय सरकारों के विरोध के बावजूद अध्यक्ष चुना गया, उसमें कुछ तो अच्छाई होगी। उसने अपने अध्यक्ष काल में देश की कुछ तो सेवा की होगी कि उसकी पीठ पर कोई संगठन न होने पर भी और भारी बाधाओं के बावजूद वह इतने वोट प्राप्त कर सका।

तुमने अपने 22 फरवरी के वक्तव्य में आगे कहा है : "मैंने कांग्रेस अध्यक्ष को सुझाया कि यह सबसे पहला और सबसे जरूरी विचारणीय मुद्दा है, किन्तु अब तक उसे निपटाने की कोई कोशिश नहीं की गई।" किन्तु ये पंक्तियां लिखते समय तुमको यह खयाल क्यों नहीं आया कि गलतफहमी को दूर करने के लिए मेरा सरदार पटेल और दूसरों से मिलना जरूरी था और यह कार्यसमिति की 22 फरवरी की बैठक के समय ही हो सकता था? अथवा क्या तुम यह खयाल करते हो कि मैंने कार्यसमिति की बैठक को टाला? यह सही है कि 'लांछन वाले मामले' के बारे में मैंने 15 फरवरी को महात्मा गांधी से चर्चा नहीं की, हालांकि उन्होंने एक बार इसका जिक्र किया था, किन्तु उस समय मैं तुम्हारे ही इस निर्देश का पालन कर रहा था कि हमको व्यक्तिगत सवालों के बजाय सिद्धान्त और कार्यक्रमों को ज्यादा महत्त्व देना चाहिए। मैं तुम्हें बता दूं कि जब महात्मा गांधी ने मुझसे कहा कि सरदार पटेल और अन्य एक ही समिति में मेरे साथ सहयोग नहीं करेंगे तो मैंने उनसे यही कहा कि 22 फरवरी को जब हम मिलेंगे तो मैं उन लोगों से बात कर लूंगा और उनका सहयोग हासिल करने की कोशिश करूंगा। तुम शायद मुझसे सहमत होगे कि लांछनों का—अगर कोई थे तो—महात्मा गांधी से नहीं, बल्कि कार्यसमिति के सदस्यों से संबंध था और उनके बारे में उन्हीं से बात करना जरूरी था।

इस बयान में तुम मुझसे यह चाहते हो कि मैं लिखित रूप में यह ठीक-ठीक बताऊं कि वाम-पक्ष और दक्षिण-पक्ष जैसे शब्दों से मेरा क्या आशय है? मैंने तो यही सोचा था कि कम-से-कम तुम ऐसा सवाल नहीं पूछोगे। क्या तुम उन रिपोर्टों को भूल गये जो तुमने खुद और आचार्य कृपलानी ने हरिपुरा में कांग्रेस महासमिति को दी थीं? क्या तुमने अपनी रिपोर्ट में यह नहीं कहा था कि दक्षिण-पक्ष वाम-पक्ष को दबाने की कोशिश कर रहा है? अगर तुम जरूरत पड़ने पर दक्षिण-पक्ष और वाम-पक्ष जैसे शब्दों का प्रयोग कर सकते हो तो क्या दूसरे लोग वैसा नहीं कर सकते?

तुमने मुझ पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर अपनी नीति स्पष्ट न करने का आरोप भी लगाया है। मेरा खयाल है कि मेरी अपनी नीति है, वह गलत या सही हो सकती है। त्रिपुरी में अपने संक्षिप्त अध्यक्षीय भाषण में मैंने उसका अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में जिक्र किया है। मेरी विनम्र राय में भारत की और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए हमारे सामने एक ही समस्या, एक ही कर्तव्य है—कि ब्रिटिश सरकार के सामने स्वराज्य का प्रश्न पेश करें। इसके साथ-साथ, सारे देश में रियासती जनता के आंदोलन के पथ-प्रदर्शन की भी एक व्यापक योजना बनानी चाहिए। मेरा खयाल है कि त्रिपुरी-कांग्रेस के पहले भी मैंने अपने विचारों की स्पष्ट झांकी तुम्हें उस समय दे दी थी, जब हम शान्ति-निकेतन में और बाद में आनन्द भवन में मिले थे। मैंने अभी-अभी, जो लिखा है, वह भी कम-से-कम निश्चित नीति ही है। अब मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारी क्या नीति है? हाल के एक पत्र में त्रिपुरी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत मांग संबंधी प्रस्ताव का तुमने जिक्र किया है, और तुम उसे काफी महत्त्व देते प्रतीत होते हो। मुझे खेद है कि एकदम ऐसा अस्पष्ट प्रस्ताव, जिसमें भली लगने वाली सामान्य बातें कही गई हों, मैं पसंद नहीं कर सकता। वह हमें कहीं भी नहीं ले जा सकता। अगर हम स्वराज्य के लिए ब्रिटिश सरकार से लड़ना चाहते हों और हम अनुभव करते हों कि उसके लिए उपयुक्त समय आ गया है तो हमको ऐसा साफ-साफ कहना चाहिए और आगे कदम बढ़ाना चाहिए। तुमने एक से अधिक बार मुझसे कहा हैं कि चुनौती देने का विचार तुम्हें जंचता नहीं। पिछले बीस वर्षों में महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार को बार-बार चुनौतियां देते रहे हैं। इन चुनौतियों और जरूरत होने पर साथ-साथ लड़ाई की तैयारी करने के फलस्वरूप ही वह ब्रिटिश सरकार से इतना कुछ प्राप्त कर सके हैं। अगर तुम सचमुच यह मानते हो कि राष्ट्रीय मांग को मनवा लेने का समय आ गया है तो चुनौती देने के अलावा तुम और कौन-सा रास्ता अपना सकते हो? पिछले दिनों महात्मा गांधी ने राजकोट के सवाल पर चुनौती दी थी। क्या तुम चुनौती के विचार का इसलिए विरोध करते हो कि मैंने उसे पेश किया है? अगर यही बात है तो उसे साफ-साफ और बिना किसी लाग-लपेट के क्यों नहीं कहते?

सार रूप में कहूं तो मैं यह नहीं समझ पाता कि देश की आंतरिक राजनीति

के बारे में तुम्हारी क्या नीति है। मुझे याद पड़ता है, मैंने तुम्हारे किसी एक बयान में यह पढ़ा था कि तुम्हारे खयाल से राजकोट और जयपुर, देश के सभी अन्य राजनैतिक प्रश्नों को ढंक लेंगे। मैं तुम्हारे जैसे बड़े नेता के मुंह से ऐसा उद्‌गार सुनकर स्तब्ध रह गया। मैं नहीं समझ सकता कि कोई सवाल स्वराज्य के मुख्य सवाल को कैसे ढंक सकता है? राजकोट इस विशाल देश के भीतर एक छोटा-सा बिंदु है। जयपुर का क्षेत्र राजकोट से कुछ बड़ा है, किंतु जयपुर का सवाल भी हमारी ब्रिटिश सरकार के साथ चलने वाली मुख्य लड़ाई की तुलना में चिऊंटी की चटक-मात्र है। फिर, हम यह नहीं भूल सकते कि देश में छः सौ से अधिक रियासतें हैं। अगर हम मौजूदा टुकड़ों में विभक्त, थेगली लगाने वाली और समझौता-पसंद नीति का अनुसरण करते रहेंगे और अन्य राज्यों में लोक-संघर्ष स्थगित कर देंगे तो रियासतों में नागरिक स्वतंत्रता और उत्तरदायी शासन स्थापित करने में हमें ढाई सौ साल लग जायेंगे और उसके बाद हम स्वराज्य की बात सोचेंगे।

अंतर्राष्ट्रीय मामलों में तुम्हारी नीति और भी अधिक पंगु है। कुछ समय पहले जब तुमने कांग्रेस कार्यसमिति के सामने इस आशय का प्रस्ताव किया कि यहूदियों को भारत में बसने दिया जाय तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। जब कार्यसमिति ने (शायद महात्मा गांधी की सहमति से) इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया तो तुमको बड़ी चोट लगी। विदेश-नीति यथार्थवादी विषय है और उसका निर्धारण मुख्यतः राष्ट्र के हित की दृष्टि से ही होना चाहिए। उदाहरण के लिए रूस को ले लो। अपनी आंतरिक राजनीति में वह साम्यवाद का पोषण करता है, किंतु अपनी विदेश-नीति पर वह कभी भी अपनी भावनाओं को हावी नहीं होने देता। यही कारण है कि जब उसे अपना फायदा नजर आया तो उसने फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लेने में कोई संकोच नहीं किया। फ्रांस-रूस समझौता और चेकोस्लोवाक-रूस समझौता इसकी पुष्टि करते हैं। आज भी रूस ब्रिटिश साम्राज्य के साथ समझौता करने के लिए उत्सुक है। अब बताओ, तुम्हारी विदेश-नीति क्या है? भावनाओं के बुदबुदों और नेक शिष्टाचारों से विदेश-नीति का निर्माण नहीं होता। हर समय पराजित ध्येयों की वकालत करते रहने तथा एक ओर जर्मनी और इटली जैसे देशों की निंदा करने और दूसरी ओर ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद को सदाचरण का प्रमाणपत्र देने से कोई काम बनने वाला नहीं है।

पिछले कुछ समय से तुम्हें और महात्मा गांधी समेत हर संबंधित व्यक्ति को मैं यह समझाने की कोशिश कर रहा हूं कि हमको अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का भारत के हक में फायदा उठाना चाहिए और इस उद्देश्य से अपनी राष्ट्रीय मांग एक चुनौती के रूप में ब्रिटिश सरकार के सामने रखना चाहिए, किंतु मैं तुम्हें या महात्मा गांधी को तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकता, हालांकि देश की जनता का एक बड़ा भाग मेरे रुख को पसंद करता है और ग्रेट ब्रिटेन के भारतीय विद्यार्थियों ने अनेक हस्ताक्षरों

वाला एक दस्तावेज मुझे भेजा है; जिसमें मेरी नीति का समर्थन किया गया है। आज जब त्रिपुरी-प्रस्ताव के बंधनों के बावजूद, कार्यसमिति की तुरंत नियुक्ति न करने के लिए तुम मुझे दोष देते हो तो अंतर्राष्ट्रीय स्थिति अचानक तुम्हारी निगाह में असाधारण महत्त्व धारण कर लेती है। मैं पूछता हूं, यूरोप में आज ऐसा क्या हुआ है, जो अप्रत्याशित था? क्या अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रत्येक विद्यार्थी यह नहीं जानता था कि बसंत में यूरोप में संकट पैदा होगा? जब में ब्रिटिश सरकार को चुनौती देने की बात कहता था तो क्या मैंने बार-बार इसका जिक्र नहीं किया था?

अब मैं तुम्हारे बयान के दूसरे हिस्से पर विचार करूंगा। तुम कहते हो : "यह कार्यसमिति तो अस्तित्व में नहीं है और अध्यक्ष, जैसा कि शायद वह चाहते हैं, अपने प्रस्ताव तैयार करने और उन्हें कांग्रेस के सामने पेश करने के लिए स्वतंत्र हैं। उनकी इच्छा के अनुसार साधारण काम-काज को निपटाने के लिए भी कोई बैठक नहीं बुलाई गई।" मुझे आश्चर्य है, तुम ऐसे अर्द्ध-सत्य या मैं कहूं असत्य का आश्रय कैसे ले सकते हो? कार्यसमिति के बारह सदस्य अकस्मात और अप्रत्याशित रूप में अपने इस्तीफे मेरे आगे रख देते हैं और फिर भी तुम उनको नहीं; मुझे ही दोष देते हो कि शायद मैं प्रस्ताव तैयार करने के लिए स्वतन्त्र होना चाहता था। फिर, सामान्य काम-काज निपटाने से मैंने तुम्हें कब रोका? कांग्रेस के लिए प्रस्ताव तैयार करने के मुख्य काम के बारे में भी, हालांकि मैंने त्रिपुरी-कांग्रेस तक कार्यसमिति की बैठक स्थगित करने का सुझाव दिया था, पर किंतु क्या मैंने सरदार पटेल से अपने तार में यह नहीं कहा कि समिति के दूसरे सदस्यों से परामर्श करें और उनकी राय मुझे तार द्वारा सूचित करें? अगर तुम्हें इस बारे में भी शक है तो कृपया सरदार के नाम मेरे तार पर एक नजर डाल लो। मेरा तार इस प्रकार था :

"सरदार पटेल, वर्धा।

कृपया महात्माजी के नाम मेरा तार देखें। खेद के साथ अनुभव करता हूं कि कार्यसमिति कांग्रेस तक स्थगित कर दी जाय। कृपया साथियों से परामर्श करें और राय तार से सूचित करें।

—सुभाष"

त्रिपुरी-कांग्रेस के समाप्त होने के सात दिन बाद तुमने मुझे इस आशय का तार भेजा कि कांग्रेस में गतिरोध के लिए मैं ही जिम्मेदार हूं। तुम्हारी समस्त न्याय-भावना के बावजूद तुमने यह अनुभव नहीं किया कि त्रिपुरी-कांग्रेस ने, जब पंडित पंत का प्रस्ताव पास किया तो वह अच्छी तरह जानती थी कि मैं सख्त बीमार हूं, महात्मा गांधी त्रिपुरी नहीं आये हैं और हम दोनों का निकट भविष्य में मिलना मुश्किल होगा। तुमने यह भी नहीं सोचा कि मेरे हाथों अवैधानिक और अनियमित रूप से कार्यसमिति नियुक्त करने का अधिकार छीनकर कांग्रेस ने स्वयं गतिरोध की जिम्मेदारी अपने सिर पर ली है। अगर पंडित पंत के प्रस्ताव ने निष्ठुरतापूर्वक कांग्रेस-संविधान

की अवहेलना न की होती तो मैंने 13 मार्च, 1939 को कार्यसमिति को नियुक्त कर दिया होता। तुमने कांग्रेस के सात दिन बाद ही मेरे विरुद्ध सार्वजनिक आन्दोलन शुरू कर दिया, हालांकि तुम्हें मेरे स्वास्थ्य की दशा का अच्छी तरह पता था और मेरे नाम दिया हुआ तुम्हारा तार मुझे मिलने के पहले अखबारों में छप गया था। जब त्रिपुरी के पहले पूरे पखवारे कार्यसमिति के बारह सदस्यों के त्यागपत्र देने के कारण कांग्रेस के मामलों में गतिरोध था तो क्या तुमने विरोध में एक शब्द भी कहा? क्या तुमने मेरे प्रति एक भी शब्द सहानुभूति का कहा? तुमने हाल के एक पत्र में लिखा है कि तुम अपनी ही ओर से बोलते हो या काम करते हो और तुमको और किसी का प्रतिनिधि नहीं मानना चाहिए। यह हमारी बदकिस्मती है कि तुम्हें यह कभी नहीं सूझता कि तुम दूसरों को दक्षिण-पंथियों के हिमायती के रूप में नजर आते हो। उदाहरण के लिए अपने 26 मार्च के पत्र को ही ले लो। तुम उसमें कहते हो : "मैंने तुम्हारा बयान आज पत्रों में पढ़ा। मुझे डर है इस तरह की दलीलबाजी से युक्त बयान स्थिति को सुधारने में सहायक नहीं होंगे।"

इस समय, जबकि कई हल्कों से मेरे ऊपर अन्यायपूर्ण हमले हो रहे हैं—जैसा कि कहा जाता है, कमर से नीचे प्रहार किए जा रहे हैं—तुम विरोध में एक शब्द नहीं कहते, तुम मेरे लिए एक शब्द सहानुभूति का नहीं बोलते। किंतु जब मैं आत्म-रक्षा में कुछ कहता हूं तो तुम्हारी प्रतिक्रिया होती है—"ऐसी दलीलबाजी वाले बयान अधिक सहायक नहीं होंगे।" क्या तुमने मेरे राजनीतिक विरोधियों के बयानों के लिए भी ऐसे ही विशेषणों का प्रयोग किया है? शायद उनकी तुम सराहना करते होगे।

फिर, तुम अपने 22 फरवरी के वक्तव्य में कहते हो : "स्थानीय कांग्रेसी झगड़ों को सामान्य तरीके से निपटाने के बजाय सीधे शीर्ष-स्थान से निपटाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है और इसका यह नतीजा होता है कि खास गुटों और पार्टियों के साथ रियायत होती है, गोलमाल पैदा होता है और काम की हानि होती है।...मुझे यह देखकर दुःख होता है कि हमारे संगठन के हृदय-स्थल में नये तरीके दाखिल किए जा रहे हैं, जिनसे स्थानीय झगड़े ऊंचे स्तरों पर भी फैल जायेंगे।"

इस प्रकार का दोषारोपण पढ़कर मुझे दुःख-मिश्रित आश्चर्य हुआ, जबकि तुमने सब तथ्यों का पता लगाने की परवाह नहीं की है। कम-से-कम तुम यह तो कर सकते थे कि मुझसे तथ्यों के बारे में, जिस रूप में कि वे मुझे मालूम हैं, पूछ लेते। मैं नहीं जानता कि यह लिखते समय तुम्हारे दिमाग में कौन-सी बातें थीं। एक मित्र का कहना है कि तुम दिल्ली प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मामलों के बारे में सोच रहे हो। अगर यही बात है तो मैं तुम्हें बिलकुल साफ-साफ बता दूं कि दिल्ली के बारे में मैंने, जो कुछ किया, मेरे लिए वही करना ठीक था।

इस सम्बन्ध में मुझे कहने की इनाजत दो कि ऊपर से हस्तक्षेप करने के मामले में कोई कांग्रेस-अध्यक्ष तुमसे बाजी नहीं मार सकता। शायद तुम उन बातों को भूल

गए, जो तुमने कांग्रेस-अध्यक्ष की हैसियत से की हैं या शायद अपनी ओर विवेचक दृष्टि से देखना मुश्किल होता है। 22 फरवरी को तुम मुझ पर ऊपर से हस्तक्षेप करने का आरोप लगाते हो। क्या तुम यह भूल गए कि 4 फरवरी को तुमने मुझे एक पत्र लिखा था, जिसमें तुमने मुझ पर निराग्रही और निष्क्रिय अध्यक्ष होने का आरोप लगाया है? तुमने लिखा है : "वस्तुतः तुमने निर्देश देने वाले अध्यक्ष की अपेक्षा प्रवक्ता (स्पीकर) की हैसियत अधिक रखी है।" तुम्हारा यह आरोप सबसे अधिक आपत्तिजनक है कि मैं पक्षपातपूर्ण ढंग से काम कर रहा हूं और किसी खास पार्टी या गुट के प्रति रियायत कर रहा हूं। क्या व्यक्तिशः मेरे प्रति नहीं तो कांग्रेस के अध्यक्ष के प्रति तुम्हारा यह कर्तव्य नहीं था कि उसके विरुद्ध समाचारपत्रों में ऐसा गंभीर आरोप लगाने के पहले उचित जांच कर लेते?

यदि चुनाव-विवाद पर समग्र दृष्टि से कोई विचार करे तो वह यही सोचेगा कि चुनाव का दंगल समाप्त हो जाने के बाद यह सारा प्रकरण भुला दिया जायगा, लड़ाई के अस्त्रों को दफना दिया जायगा और जैसा कि मुक्केबाजी के दंगल के बाद होता है, मुक्केबाज हंसते हुए हाथ मिला लेंगे। किन्तु सत्य और अहिंसा के बावजूद ऐसा नहीं हुआ। चुनाव-परिणाम को खिलाड़ी की भावना से स्वीकार नहीं किया गया, मेरे विरुद्ध मन में गांठ बांध ली गई और प्रतिशोध की भावना गतिशील कर दी गई। तुमने कार्यसमिति के अन्य सदस्यों की ओर से शस्त्र ग्रहण किए। तुम्हें ऐसा करने का पूरा अधिकार था। किन्तु क्या तुमने कभी यह नहीं सोचा कि कुछ मेरे पक्ष में भी कहा जा सकता है? क्या कार्यसमिति के दूसरे सदस्यों के लिए इसमें कुछ अनुचित नहीं था कि मेरी अनुपस्थिति में और मेरी पीठ पीछे एकत्र होते और डॉ. पट्टाभि को कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए खड़ा करने का फैसला करते? क्या सरदार पटेल और दूसरों के लिए अनुचित न था कि कार्यसमिति के सदस्य के नाते कांग्रेस-प्रतिनिधियों से डॉ. पट्टाभि का समर्थन करने की अपील करते? क्या चुनाव-कार्य के लिए सरदार पटेल का, महात्मा गांधी का नाम और उनकी सत्ता का उपयोग करने में कुछ भी अनुचित नहीं था? क्या सरदार पटेल का यह कहना अनुचित नहीं था कि मेरा दुबारा चुना जाना देश के हित के लिए हानिकर होगा? क्या विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों का वोट हासिल करने के लिए उपयोग करने में कोई गलती नहीं थी?

जहां तक कथित 'लांछनों' का ताल्लुक है, मुझे जो कुछ कहना था, वह मैं अपने अखबारी बयानों में और त्रिपुरी में विषय-समिति के सामने अपने भाषण में पहले ही कह चुका हूं। किन्तु मैं तुमसे एक सवाल पूछना चाहूंगा। क्या तुम यह भूल गए कि जब लार्ड लोथियन भारत का दौरा कर रहे थे तो उन्होंने सार्वजनिक रूप में कहा था कि सब कांग्रेसी नेता संघ-योजना के बारे में पं. नेहरू से सहमत नहीं हैं? इस उद्‌गार का क्या तात्पर्य और अर्थ है?

तुमने अपने 22 फरवरी के बयान में संगठन के शिखर पर पारम्परिक सन्देह के वातावरण और विश्वास की कमी की शिकायत की है। क्या मैं तुमसे कह दूं कि अध्यक्षीय चुनाव न होने तक तुम्हारे कार्यकाल की अपेक्षा मेरे कार्यकाल में कार्यसमिति के सदस्यों में सन्देह और विश्वास का अभाव कहीं कम था? उसके फलस्वरूप हमारे त्यागपत्र देने की कभी नौबत नहीं आई, जैसा कि तुम्हारे ही कथनानुसार, तुम्हें एक से अधिक बार करना पड़ा। जहां तक मुझे मालूम है, झगड़ा चुनाव-संघर्ष में मेरी सफलता के बाद से शुरू हुआ। अगर मैं हार गया होता तो ज्यादा संभव यही था कि जनता को 'लांछन' प्रकरण के बारे में सुनने को मिलता ही नहीं।

तुम यह अक्सर कहते रहते हो कि तुम अपना ही प्रतिनिधित्व करते हो, और किसी का नहीं, और तुम्हारा किसी भी पार्टी से सम्बन्ध नहीं है। अक्सर यह बात तुम इस ढंग से कहते हो मानो इस बात पर तुम बड़ा गर्व या सुख अनुभव करते हो। साथ ही, कभी-कभी तुम अपने को समाजवादी—'पक्का समाजवादी' भी कहते हो। मेरी समझ में नहीं आता कि कोई समाजवादी, जैसा कि तुम अपने को मानते हो, व्यक्तिवादी कैसे हो सकता है? एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होता है। मेरे लिए यह भी एक पहेली है कि तुम जिस व्यक्तिवाद के समर्थक हो, उसके जरिये समाजवाद कभी भी कैसे स्थापित हो सकता है? अपने पर किसी भी पार्टी का बिल्ला न लगाकर आदमी सब पार्टियों का प्रिय हो सकता है, किन्तु उसका मूल्य क्या? अगर एक आदमी किन्हीं विचारों और सिद्धान्तों में विश्वास रखता है तो उसे उन्हें साकार करने की कोशिश करनी चाहिए और यह किसी पार्टी या संगठन के जरिये ही किया जा सकता है। मैंने आज तक नहीं सुना कि किसी देश ने बिना पार्टी के समाजवाद की स्थापना की है या उस दिशा में कदम आगे बढ़ाया है। महात्मा गांधी की भी अपनी पार्टी है।

एक और विचार है, जिसका तुम अक्सर राग अलापते हो—उसके बारे में भी मैं कुछ कहना चाहूंगा। मेरा आशय राष्ट्रीय एकता के विचार से है। मैं भी उस विचार का पूरा समर्थक हूं, जैसा कि मैं मानता हूं, सारा देश है। किन्तु इसकी एक प्रकट सीमा है। जिस एकता की हम कोशिश करते हैं या कायम रखना चाहते हैं, वह काम करने की एकता होनी चाहिए, हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहने की नहीं। एक पार्टी अगर दो टुकड़ों में बंटती है तो यह हमेशा ही बुरा नहीं होता। ऐसे मौके आते हैं जब आगे बढ़ने के लिए अलहदगी जरूरी होती है। जब रूस की सोशल डेमोक्रेट पार्टी सन् 1903 में टूटी और बोलशेविक और मेनशेविक अस्तित्व में आये तो लेनिन ने राहत की सांस ली थी। मेनशेविकों का भारी बोझ सिर से उतर गया और लेनिन ने महसूस किया कि आखिर तेज तरक्की का रास्ता खुल गया है। भारत में जब 'माडरेट' (नर्मदली) कांग्रेस से अलग हो गये तो किसी भी प्रगतिशील विचारधारा के व्यक्ति ने इस अलहदगी पर अफसोस प्रकट नहीं किया। उसके बाद, जब बहुत-से

कांग्रेसी सन् 1920 में कांग्रेस से हट गये तो शेष कांग्रेसियों ने उनकी जुदाई पर आंसू नहीं बहाये। इस तरह की अलहदगियों से वास्तव में आगे बढ़ने में मदद मिली। कुछ समय से हम एकता के अन्धभक्त बन रहे हैं। इसमें खतरा छिपा हुआ है। उसको कमजोरी को छिपाने के लिए या ऐसे समझौते करने के लिए उपयोग किया जा सकता है, जो बुनियादी तौर पर प्रगति-विरोधी होते हैं। तुम अपना ही उदाहरण ले लो। तुम गांधी-इर्विन समझौते के खिलाफ थे, किन्तु तुमने एकता के नाम पर उसे स्वीकार कर लिया। फिर, तुम प्रान्तों में मन्त्री-पद स्वीकार करने के खिलाफ थे, किन्तु जब पद ग्रहण करने का निश्चय हुआ तो तुमने शायद उसी एकता के नाम पर इस फैसले को मान लिया। दलील की खातिर मान लो कि किसी तरह कांग्रेस का बहुमत संघ-योजना को अमल में लाना स्वीकार कर लेता है तो उसके विरोधी, अपने दृढ़ सिद्धान्तों के बावजूद, उसी एकता के नाम पर अपने राजनैतिक विश्वासों के विरुद्ध संघ-योजना को स्वीकार करने के लिए प्रेरित हो सकते हैं। एक क्रान्तिकारी आंदोलन में एकता साध्य नहीं हुआ करती, साधन ही होती है। उसकी तभी तक जरूरत है, जब तक कि वह प्रगति में सहायक होती है। ज्यों ही वह प्रगति में बाधक बनने लगती है कि वह एक बुराई बन जाती है। मैं पूछता हूं, अगर कांग्रेस बहुमत से संघ-योजना को स्वीकार कर ले तो तुम क्या करोगे? क्या तुम उस फैसले के आगे सिर झुकाओगे या उसके खिलाफ बगावत करोगे?

तुम्हारा इलाहाबाद से लिखा 4 फरवरी का पत्र दिलचस्प है। उससे प्रकट होता है कि मेरे प्रति तुम्हारा रुख उस समय तक कड़ा नहीं हुआ था जैसा कि बाद में हुआ। उदाहरण के लिए तुम अपने पत्र में लिखते हो :

"जैसा कि मैंने तुमसे कहा, तुम्हारे चुनाव-संघर्ष से कुछ लाभ हुआ है तो कुछ हानि।" बाद में तुम्हारी यह धारणा बन गई कि मेरा दुबारा निर्वाचित होना बिलकुल बुरा हुआ। आगे तुमने लिखा है : "इस भविष्य पर हमको व्यक्तियों के अर्थ में नहीं, बल्कि व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। जाहिर है कि घटना-चक्र हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं घूमा, केवल इसीलिए हममें से किसी को रुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। कुछ भी होता रहे, हमें तो अपने ध्येय की पूर्ति के लिए पूरी ताकत खर्च करनी होगी।" यह स्पष्ट है कि तुम 'लांछन-प्रकरण' को वह महत्त्व नहीं देते थे, जो बाद में देने लगे। यही नहीं, जैसा मैं पहले कह चुका हूं, 'लांछन-प्रकरण' पर बाद में जो आंदोलन हुआ, उसके मुख्यतः जनक तुम्हीं थे। इस बारे में शायद तुम्हें याद होगा कि जब हम शांति-निकेतन में मिले थे तो मैंने सुझाया था कि अगर हमारी कोशिश के बावजूद हम कार्यसमिति के सदस्यों का सहयोग हासिल न कर सकें तो हमको कांग्रेस को चलाने की जिम्मेदारी से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। उस समय तुम मुझसे सहमत हुए थे। बाद में पता नहीं किन कारणों से तुम मानो बड़ी बहादुरी से दूसरे पक्ष में जा मिले। बेशक, तुम्हें ऐसा करने का प्रत्येक हक हासिल था, किन्तु फिर तुम्हारा समाजवाद

या वामवाद कहां गया!

अपने 4 फरवरी के पत्र में तुमने एक से अधिक बार यह आरोप लगाया है कि मेरी अध्यक्षता के जमाने में संघ जैसे महत्वपूर्ण सवालों पर चर्चा नहीं हुई। यह एक अजीब आरोप है जबकि तुम खुद करीब छः महीने देश से बाहर रहे। क्या तुम्हें पता है कि जब श्री भूलाभाई देसाई के कथित लन्दन वाले भाषण पर तूफान पैदा हुआ था तो मैंने कार्यसमिति को यह सुझाया था कि संघ के विरुद्ध हमें अपना प्रस्ताव दोहराना चाहिए और देश में संघ-विरोधी प्रचार चलाना चाहिए, पर मेरा प्रस्ताव गैर-जरूरी समझा गया। क्या तुम्हें मालूम है कि बाद में जब कार्यसमिति की बैठक सितम्बर में दिल्ली में हुई तो संघ की निन्दा करने वाला प्रस्ताव जरूरी समझा गया और कांग्रेस महासमिति ने ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया।

पत्र में एक आरोप तुमने यह लगाया है कि मैंने कार्यसमिति में निष्क्रिय रुख रखा और मैंने वस्तुतः निर्देशक अध्यक्ष बनने के बजाय स्पीकर की तरह काम किया। इस प्रकार का कथन कुछ न्यायोचित नहीं है। क्या यह कहना गलत होगा कि आमतौर पर कार्यसमिति का ज्यादातर समय तुम खुद ही ले लेते थे? अगर कार्यसमिति में तुम्हारे जितना वाचाल कोई दूसरा सदस्य होता तो हम अपना काम कभी निपटा ही नहीं पाते। इसके अलावा, दूसरे तौर-तरीके कुछ ऐसे थे कि तुम लगभग अध्यक्ष के काम अपने हाथों में ले लेते थे। अवश्य ही मैं तुम्हारी लगाम खींचकर समिति को संभाल सकता था, किन्तु उसके फलस्वरूप हमारे बीच खुली दरार पड़ जाती। बहुत साफ-साफ कहूं तो तुम कभी-कभी कार्यसमिति में लाड़-प्यार से बिगड़े बेटे की तरह बर्ताव करते थे और अक्सर तुम्हारा पारा चढ़ जाता था। अब बताओ, तुमने अपनी तमाम 'गरममिजाजी' और उछल-कूद से क्या नतीजे हासिल किए? तुम आमतौर पर घंटों अड़े रहते और तब आखिर में घुटने टेक देते। सरदार पटेल और दूसरों के पास तुमसे निपटने के लिए एक कुशल तरीका है। वे तुम्हें खूब बोलने देंगे और अन्त में तुमसे कहेंगे, अच्छा प्रस्ताव लिख डालो। एक बार तुमको प्रस्ताव बनाने दिया कि तुम खुश हो जाओगे, फिर भले ही वह प्रस्ताव कैसा भी क्यों न हो। मैंने तुम्हें अपने मुद्दे पर आखिर तक डटे रहते शायद ही कभी देखा है।

मेरे खिलाफ दूसरा अजीब आरोप यह है कि पिछले वर्ष में कांग्रेस महासमिति के दफ्तर की हालत बड़ी खराब हो गई है। मैं नहीं जानता कि तुम्हारे खयाल से वह किसी शानदार क्लर्क या शानदार सेक्रेटरी से कहीं ज्यादा हैसियत रखता है। अध्यक्ष की हैसियत से तुम सेक्रेटरी के काम भी अपने हाथ में ले लिया करते थे, किंतु यह कोई वजह नहीं कि दूसरे अध्यक्ष भी तुम्हारे जैसा ही बर्ताव करें। इसके अलावा, मुख्य कठिनाई यह थी कि कांग्रेस महासमिति का दफ्तर काफी दूर था और जनरल सेक्रेटरी मेरी पसन्द का नहीं था। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि जैसा एक सेक्रेटरी को अपने प्रेसीडेंट के प्रति वफादार होना चाहिए, वैसा जनरल सेक्रेटरी

वफादार न था। (मैं जान-बूझकर बहुत नरम शब्दों में यह बात कह रहा हूं।) असल में कृपलानीजी को मेरी इच्छा के विरुद्ध थोपा गया। शायद तुम्हें याद होगा कि मैंने कांग्रेस महासमिति के दफ्तर का एक भाग कलकत्ता लाने की भरसक कोशिश की, ताकि मैं उसके काम की ठीक तरह से देखभाल कर सकूं। किन्तु तुम सबने उसका विरोध किया और अब तुम उल्टा मुझे ही कांग्रेस महासमिति के दफ्तर की कमियों के लिए दोष देते हो। अगर कांग्रेस महासमिति का दफ्तर, जैसा तुम कहते हो, सचमुच बिगड़ा है तो इसके लिए मैं नहीं, बल्कि जनरल सेक्रेटरी जिम्मेदार है। तुम मुझ पर यही आरोप लगा सकते हो कि मेरे अध्यक्ष-काल में जनरल सेक्रेटरी के काम में कम हस्तक्षेप हुआ और उसे पहले की अपेक्षा वास्तव में ज्यादा अधिकार प्राप्त रहे। फलस्वरूप अगर सचमुच कांग्रेस महासमिति के दफ्तर की हालत खराब हुई है तो उसकी जिम्मेदारी मुझ पर नहीं, बल्कि जनरल सेक्रेटरी पर है।

मुझे आश्चर्य है कि बिना पूरे तथ्य जाने तुमने यह आरोप लगाया है कि मैंने बम्बई श्रमिक विवाद विधेयक को उसकी मौजूदा शक्ल में स्वीकृत होने से रोकने की भरसक कोशिश नहीं की। असल में, कुछ समय से, तथ्यों का पता लगाने की चिन्ता किए बिना तुमने मेरे खिलाफ आरोप लगाने की, कभी-कभी सार्वजनिक रूप से लगाने की, कला का विकास कर लिया है। अगर तुम जानना चाहते हो कि मैंने इस बारे में क्या किया तो सबसे अच्छी बात यह होगी कि सरदार पटेल से पूछ देखो। जो बात मैंने नहीं की, वह यही कि मैंने इस सवाल पर उनके साथ नाता नहीं तोड़ा। अगर यह अपराध है तो मैं अभियोग को स्वीकार करता हूं। प्रसंगवश, क्या तुम्हें पता है कि बम्बई की कांग्रेस-समाजवादी पार्टी ने विधेयक का उसके मौजूदा रूप में समर्थन किया था? और अब तुम्हारी अपनी बात ले लो। क्या मैं पूछ सकता हूं कि तुमने इस विधेयक की स्वीकृति को रोकने के लिए क्या किया? जब तुम लौटे तो तुम जरूर कुछ कर सकते थे। मेरे खयाल से कुछ श्रमिक कार्यकर्ता तुमसे मिले थे और उनको तुमने कुछ उम्मीद बंधाई थी। मेरी अपेक्षा तुम अच्छी स्थिति में थे, कारण, तुम मेरी अपेक्षा कहीं अधिक गांधीजी को प्रभावित कर सकते हो। अगर तुमने जोर लगाया होता तो जहां मैं विफल रहा, वहां तुम सफल हो सकते हो। क्या तुमने ऐसा किया?

एक और मामला है, जिसके बारे में तुम अक्सर मेरे ऊपर तीर चलाया करते हो। वह है मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाने का विचार। सिद्धांतवादी राजनीतिज्ञ की तरह तुमने हमेशा के लिए यह तय कर दिया कि मिला-जुला मन्त्रिमण्डल दक्षिण-पंथी कदम होगा। इस प्रश्न पर अपने आखिरी निर्णय की घोषणा करने से पहले क्या तुम एक पखवारे के लिए असम का दौरा करोगे और फिर आकर मुझे बताओगे कि क्या वर्तमान मिला-जुला मन्त्रिमण्डल प्रगतिशील रहा है अथवा प्रतिक्रियावादी? इलाहाबाद में बैठकर बुद्धिमत्ता-भरे ऐसे उद्‌गार प्रकट करने से क्या फायदा, जिनका

वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं? सादुल्ला-मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद जब मैं असम गया तो मुझे एक भी ऐसा कांग्रेसी नहीं मिला, जो मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाने पर जोर न देता हो। तथ्य यह है कि प्रांत प्रतिक्रियावादी मन्त्रिमण्डल के नीचे कराह रहा था। हालत बद-से-बदतर होती जा रही थी और भ्रष्टाचार रोजाना बढ़ता जा रहा था। जब नये मन्त्रिमण्डल ने पद ग्रहण किया तो असम की कांग्रेस विचारधारा को मानने वाली समस्त जनता ने राहत की सांस् ली और नये विश्वास और आशा का अनुभव किया। अगर तुम पद ग्रहण की नीति को सारे ही देश के लिए छोड़ने को तैयार हो तो मैं भी असम और बंगाल जैसे प्रान्तों के कांग्रेसजनों के साथ-साथ उसका स्वागत करूंगा। किन्तु अगर कांग्रेस पार्टी सात प्रान्तों में पद ग्रहण करती है तो यह जरूरी है कि दूसरे प्रान्तों में मिले-जुले मन्त्रिमण्डल स्थापित हों। अगर तुम्हें पता हो कि मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनने के बाद तमाम बाधाओं और कठिनाइयों के बावजूद, प्रांत की हालत में कितना सुधार हुआ है तो तुम अपनी राय बिलकुल बदल लोगे।

बंगाल के बारे में, मुझे भय है कि तुम करीब-करीब कुछ नहीं जानते। अपनी अध्यक्षता के दो वर्षों में तुमने इस प्रान्त का कभी दौरा नहीं किया, हालांकि इस प्रान्त को जिस भयंकर दमन में से गुजरना पड़ा, उसे देखते हुए उसकी ओर दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान देने की जरूरत थी। क्या तुमने कभी यह मालूम करने की परवाह की कि हक मन्त्रिमण्डल के पद ग्रहण करने के बाद इस प्रांत में क्या हुआ? अगर तुमने की होती तो तुम मुझसे सहमत होते कि अगर इस प्रांत को बचाना हो तो हक मंत्रिमंडल को खत्म होना चाहिए और मौजूदा परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ शासन की यानी मिले-जुले मन्त्रिमण्डल की स्थापना होनी चाहिए। किन्तु यह सब कहते समय मुझे यह भी कहना चाहिए कि मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का सवाल इसलिए उठता है कि पूर्ण-स्वराज्य का सक्रिय संघर्ष स्थगित कर दिया गया है। इस लड़ाई को कल शुरू कर दो और मिले-जुल मन्त्रिमण्डल की सारी चर्चा हवा में उड़ जाएगी।

अब मैं तुम्हारे दिल्ली के 20 मार्च के तार का जिक्र करूंगा। उसमें तुमने कहा : 'अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और नाजुक राष्ट्रीय समस्याओं की दृष्टि से कार्यसमिति का गठन और दफ्तर का इन्तजाम जरूरी है।" आदि। कार्यसमिति के शीघ्र गठन की जरूरत को हर कोई समझ सकता है किन्तु तुम्हारे तार में मेरी कठिनाइयों के लिए तनिक भी सहानुभूति नहीं दिखाई दी। तुम अच्छी तरह से जानते हो कि अगर पन्त का प्रस्ताव पेश और स्वीकृत न हुआ होता तो कार्यसमिति की घोषणा 13 मार्च को हो गई होती। जब यह प्रस्ताव पास हुआ तो कांग्रेस अच्छी तरह जानती थी कि मैं सख्त बीमार हूं, महात्मा गांधी त्रिपुरी नहीं आए हैं और मेरा उनसे निकट भविष्य में मिलना मुश्किल होगा। मैं यह समझ सकता हूं कि कार्यसमिति के गठन में एक महीने की देर हो जाती है तो स्वभावतः लोगों को बेचैनी होगी। किन्तु त्रिपुरी-कांग्रेस के एक

सप्ताह बाद ही आन्दोलन शुरू कर दिया गया और लांछन-प्रकरण की तरह ही इस मामले में भी तुमने ही मेरे खिलाफ आन्दोलन शुरू किया। क्या महात्मा गांधी से मिले बिना कार्यसमिति का गठन करना आसान था? मैं महात्माजी से कैसे मिल सकता था? और क्या तुम भूल गए कि गत वर्ष हरिपुरा कांग्रेस के छः सप्ताह बाद कार्यसमिति की बैठक हुई थी? क्या तुम सोचते हो कि तुम्हारा तार अखबारों के छपने के बाद मेरे खिलाफ कुछ लोगों ने और अखबारों ने जो आन्दोलन शुरू किया, वह सर्वथा शुद्ध हेतु से प्रेरित था? क्या मैं जान-बूझकर कार्यसमिति को नियुक्त न करके कांग्रेस के मामले में गतिरोध पैदा कर रहा था? अगर आन्दोलन सर्वथा उचित न था—तो क्या एक सार्वजनिक नेता की हैसियत से तुम्हारा यह कर्तव्य न था कि तुम मेरे पक्ष में कुछ शब्द बोलते—उस समय जबकि मैं बिस्तर में पड़ा था?

मैं तुम्हारे इस आरोप की चर्चा कर चुका हूं कि मेरी अध्यक्षता के जमाने में कांग्रेस महासमिति की हालत खराब हुई है। इस बारे में मैं एक शब्द और कहूंगा। क्या तुम्हें यह खयाल नहीं हुआ कि तुम मेरी निन्दा करने की कोशिश में जनरल सेक्रेटरी की निन्दा करने के अलावा दफ्तर के सारे कर्मचारियों की निन्दा कर रहे हो?

तुमने अपने तार में 'नाजुक राष्ट्रीय समस्याओं' का जिक्र किया, जिनके लिए तुम कार्यसमिति के गठन की मांग करते हो, हालांकि तुम कहते हो कि तुम कार्यसमिति में नहीं रहना चाहते। कृपया बताओ भी कि ये 'नाजुक राष्ट्रीय समस्याएं' क्या हैं? तुमने अपने एक पिछले पत्र में कहा था कि राजकोट और जयपुर की समस्या ही अत्यन्त नाजुक समस्या है। पर चूंकि महात्माजी इन मामलों से निपट रहे हैं, एक तरह से वे कार्यसमिति और महासमिति के कार्यक्षेत्र से बाहर हैं।

तुमने अपने तार में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का भी जिक्र किया है। मैंने अखबारों में देखा है कि तुम्हारे द्वारा इसका उल्लेख होने के बाद ऐसे कई आदमी, जिनमें तनिक भी अन्तर्राष्ट्रीय समझ नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को समझने की कोई इच्छा नहीं रखते और जो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का भारत के हित में उपयोग भी नहीं करना चाहते, बोहेमिया और चेकोस्लोवाकिया की किस्मत के बारे में चिन्तित हो उठे हैं। जाहिर है कि यह मुझ पर प्रहार करने का अच्छा हथियार मिल गया है। पिछले दो महीनों में ऐसा कुछ नहीं हुआ, जिसकी आशा नहीं थी। चेकोस्लोवाकिया में हाल में, जो कुछ हुआ, वह म्यूनिख-समझौते का नतीजा है। असल में यूरोप से जो जानकारी मुझे मिलती रही है, उसके आधार पर मैं पिछले छः महीनों में कांग्रेसी मित्रों से कहता रहा हूं कि बसन्त में यूरोप में संकट पैदा होगा, जो गरमियों तक जारी रहेगा। इसलिए मैं अपनी ओर से गतिवान कदम उठाने पर जोर देता आया—वह यह कि ब्रिटिश सरकार को पूर्ण स्वराज्य की मांग करने वाली चुनौती दी जाय। मुझे याद पड़ता है कि जब मैंने पिछले दिनों (शान्ति-निकेतन या इलाहाबाद में) एक बार तुमसे

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की चर्चा की थी और उसके आधार पर ब्रिटिश सरकार के सामने राष्ट्रीय मांग पेश करने की दलील दी थी तो तुमने ठंडा उत्तर दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कुछ साल जारी रहने वाला है। अचानक ही तुम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में बड़े उत्साही हो गए हो। किन्तु मैं यह बता दूं कि तुम्हारी ओर से या गांधीवादी समुदाय की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का हमारे हित में उपयोग कर लेने का कोई इरादा नजर नहीं आता। तुम्हारे तार में यह भी लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय संकट पर विचार करने के लिए कांग्रेस महासमिति की बैठक जल्दी होनी चाहिए। किस मकसद के लिए? एक लम्बा-चौड़ा प्रस्ताव पास करने के लिए, जिसका कोई व्यावहारिक नतीजा न हो? या तुम अपनी राय बदल लोगे और कांग्रेस महासमिति से कहोगे कि अब हमको पूर्ण स्वराज्य की ओर कदम बढ़ाना चाहिए और एक चुनौती की शक्ल में राष्ट्रीय मांग ब्रिटिश सरकार के सामने पेश करनी चाहिए? नहीं, मैं महसूस करता हूं कि या तो हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अपने हित में लाभ उठायें या फिर उसकी बात ही न करें। अगर हम कुछ करना-धरना नहीं चाहते तो खाली दिखावा करना बेकार है।

मुझे बताया गया है कि जब तुम दिल्ली में थे तो तुमने महात्माजी को यह आदेश दिया कि उन्हें मौलाना आजाद से मिलने इलाहाबाद जाना चाहिए। यह जानकारी बिलकुल गलत हो सकती है, लेकिन अगर गलत न हो तो क्या तुमने उनको सुझाया कि उन्हें साथ-साथ धनबाद भी हो आना चाहिए। जब मेरे सेक्रेटरी ने तुमको 24 मार्च को टेलीफोन किया कि अखबारों में यह छपा है कि डॉक्टरों की मनाही के कारण महात्माजी धनबाद नहीं आ सकते और इसका आप खंडन करें तो तुमने ऐसी कोई इच्छा प्रकट नहीं की कि महात्माजी धनबाद आयें, हालांकि तुम इस बात के लिए बड़े उत्सुक थे कि मुझे गांधीजी की इच्छानुसार कार्यसमिति के गठन की घोषणा कर देनी चाहए। टेलीफोन पर तुमने यही कहा कि धनबाद गांधीजी के कार्यक्रम में शामिल नहीं है। क्या तुम्हारे लिए महात्माजी को धनबाद आने के लिए रजामन्द करना इतना अधिक मुश्किल था? क्या तुमने कोशिश की? तुम कह सकते हो कि उन्हें राजकोट के मामले में वापस दिल्ली लौटना था। किन्तु उनकी वायसराय से मुलाकात पूरी हो चुकी थी और जहां तक सर मारिस ग्वायर से मिलने की बात है, सरदार पटेल को मिलना था, न कि महात्माजी को।

राजकोट-प्रकरण के सम्बन्ध में मैं कुछ शब्द कहना चाहूंगा। समझौते की शर्तों को, जिनके आधार पर महात्माजी का उपवास समाप्त हुआ, तुम काफी अच्छा समझते हो। कोई भी हिन्दुस्तानी ऐसा नहीं होगा, जिसे महात्माजी का जीवन बच जाने पर खुशी और राहत अनुभव नहीं हुई होगी। किन्तु जब हम समझौते की शर्तों के तर्क की बारीक निगाह से जांच-पड़ताल करते हैं तो हमें क्या मालूम होता है? पहली बात तो यह कि सर मारिस ग्वायर को, जो संघ-योजना अभिभावक अंग है, पंच मान लिया

गया। क्या इसका अर्थ यह नहीं कि हमने अप्रत्यक्ष रूप में संघ-योजना को स्वीकार कर लिया? दूसरे, सर मारिस न तो हमारे आदमी हैं, और न स्वतंत्र एजेंट ही हैं। वह सीधे-सादे रूप में सरकार के आदमी हैं। ब्रिटिश सरकार के साथ अपने किसी भी विवाद में अगर हम किसी हाईकोर्ट जज या सेशन जज को पंच मान लें तो ब्रिटिश सरकार इसके लिए खुशी से राजी हो जायगी। उदाहरण के लिए बिना मुकद्दमा चलाए नजरबन्द राजबन्दियों के मामले में ब्रिटिश सरकार हमेशा गर्व के साथ कहती है कि तत्सम्बन्धी कागजात दो हाईकोर्ट या सेशन जजों के सामने रखे जाते हैं। किन्तु हमने इस व्यवस्था को कभी सन्तोषजनक नहीं स्वीकार किया। फिर राजकोट के मामले में भिन्न तरीका क्यों स्वीकार किया गया?

इस बारे में एक और मुद्दा है, जिसे मैं नहीं समझ पाता और जिस पर तुम प्रकाश डाल सकते हो। महात्मा गांधी वायसराय से मिलने गए और उनकी भेंट हो चुकी। अब वह वहां क्यों इन्तजार कर रहे हैं? अगर सर मारिस ग्वायर को जरूरत हो तो सरदार पटेल को इन्तजार करना चाहिए। अगर महात्माजी वायसराय से मुलाकात कर चुकने के बाद दिल्ली में ठहरे रहते हैं तो क्या इससे अप्रत्यक्ष रूप में ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती? तुमने अपने 24 मार्च के पत्र में लिखा था कि महात्माजी का कई दिन तक दिल्ली में ठहरने का निश्चय हो चुका है और वह बाहर नहीं जा सकते। मैं तो ऐसा सोचता हूं, महात्माजी के लिए दिल्ली में इन्तजार करते रहने के बजाय और कई जरूरी काम करने को पड़े हैं। अगर महात्माजी थोड़ा भी परिश्रम करें तो जिस ठहराव और गतिरोध आदि की तुम इतनी शिकायत करते हो, उसे देखते-देखते समाप्त किया जा सकता है। किन्तु इस बारे में तुम चुप हो और सारा दोष मेरे लिए सुरक्षित रखते हो।

अपने 23 मार्च के पत्र में तुमने लिखा है : "मैंने बाद में दूसरे लोगों को यह गोलमोल बात करते पाया कि कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई जाय। मैं ठीक-ठीक नहीं जानता कि इन आधारों पर कौन सोच रहा है और महासमिति की बैठक बुलाने का उनका क्या उद्देश्य है, सिवा इसके कि उससे स्थिति और स्पष्ट हो सके।" खबरें काफी तेजी से और दूर-दूर फैलती हैं और मुझे सूचना मिली है कि कुछ केन्द्रीय एम. एल. ए. महासमिति की बैठक जल्दी बुलाने के अनुरोध-पत्र पर महासमिति के सदस्यों के हस्ताक्षर प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं, मानो मैं महासमिति की बैठक बुलाने को टाल रहा हूं और जान-बूझकर कांग्रेस के मामलों में गतिरोध पैदा कर रहा हूं। क्या तुमने इस तरह की चर्चा दिल्ली में या अन्यत्र नहीं सुनी? यदि हां, तो क्या तुम समझते हो, यह कदम न्यायोचित और सम्माननीय है?

इसी मार्च 23 के पत्र में तुम राष्ट्रीय मांग के प्रस्ताव और शरत् द्वारा उसके विरोध का जिक्र करते हो। जहां तक शरत् के रुख का सम्बन्ध है, वह शायद इस बारे में तुम्हें लिखने वाले हैं। किन्तु यह कहना सही नहीं कि उनके विरोध के अलावा

प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। मैंने कई लोगों से सुना है कि उन्होंने प्रस्ताव का विरोध किया, इसलिए नहीं कि उसमें कुछ बुनियादी खराबी थी, बल्कि इसलिए कि उसका कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं था। वह भी उन निर्दोष प्रस्तावों जैसा था, जो हर कांग्रेस-अधिवेशन के अन्त में पेश किए जाते हैं, अनुमोदित होते हैं और या तो सर्वसम्मति से या मूक रूप से पास किए जाते हैं। वह कौन-सा असली नेतृत्व देता है?

इस बारे में मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि पिछले वर्षों में कांग्रेस के प्रस्ताव बहुत ज्यादा लम्बे-चौड़े रहे हैं। उन्हें 'प्रस्तावों' की अपेक्षा 'निबन्ध' कहना ज्यादा ठीक होगा। पिछले हमारे प्रस्ताव संक्षिप्त, विषय-प्रद और व्यावहारिक होते थे। मेरा खयाल है कि हमारे प्रस्तावों को यह नई शक्ल देने में तुम्हारा हाथ रहा है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं लम्बे निबन्धों के बजाय अमली प्रस्ताव ज्यादा पसन्द करता हूं।

तुमने अपने पत्रों में एक से अधिक बार आज की कांग्रेस में 'दुस्साहसिक प्रवृत्तियों' का जिक्र किया है। तुम्हारा ठीक-ठीक आशय क्या है? मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारे ध्यान में कुछ खास व्यक्ति हैं। क्या तुम नये आदमियों और औरतों के कांग्रेस में आने और प्रमुखता प्राप्त करने के विरुद्ध हो? क्या तुम चाहते हो कि कांग्रेस का शीर्ष नेतृत्व चन्द व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित रहे? अगर मेरी याददाश्त मुझे धोखा नहीं देती तो संयुक्त प्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की परिषद ने एक बार इस आशय का नियम स्वीकार किया था कि किन्हीं कांग्रेस संस्थाओं में एक व्यक्ति तीन साल से अधिक पदाधिकारी न रहे। प्रकटतः यह नियम मातहत संस्थाओं के लिए था और उच्च संस्थाओं में एक ही व्यक्ति उसी पद पर दसों साल तक रह सकता है। तुम कुछ भी कहो, हम सब, एक अर्थ में, दुस्साहसी हैं, कारण, जीवन एक दीर्घ दुस्साहस है। मैंने तो सोचा था कि जो लोग अपने को प्रगतिशील कहते हैं, वे कांग्रेस संगठन की नई श्रेणियों में नये खून का स्वागत करेंगे।

तुम्हारे लिए यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि शरत् का पत्र मेरी ओर से लिखा गया। (यहां मैं तुम्हारे 24 मार्च के पत्र का हवाला दे रहा हूं) उनका अपना व्यक्तित्व है। जब वह यहां से कलकत्ता लौटे तो उन्हें गांधी का तार मिला कि वह उन्हें पत्र लिखें। अगर गांधीजी ने इस तरह का तार नहीं दिया होता तो मुझे शक है कि उन्होंने पत्र लिखा भी नहीं होता। किन्तु मैं यह कह दूं कि महात्माजी को लिखे गये उनके पत्र में कुछ ऐसी बातें हैं, जो मेरी भावनाओं को प्रकट करती हैं।

शरत् के नाम तुम्हारे पत्र के बारे में मुझे कुछ कहना है। मैं तुम्हारे पत्र से यह अर्थ लेता हूं कि त्रिपुरी में वातावरण आदि के बारे में उन्होंने जो कुछ लिखा, उस पर तुम्हें आश्चर्य हुआ। इस पर मुझे आश्चर्य होता है। हालांकि मैं स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा नहीं सकता था, किन्तु स्वतंत्र जरियों से उस जगह के दूषित वातावरण की

मुझे काफी रिपोर्ट मिली थी। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम उस जगह आये-गये और फिर भी कैसे तुम्हें उसकी गन्ध नहीं आई या तुमने उसके बारे में सुना नहीं?

दूसरे, तुम्हारा यह कहना है कि त्रिपुरी में दूसरे सवालों के विचार पर व्यक्तिगत प्रश्नों की छाप पड़ी। तुम्हारा कहना सही है। सिर्फ तुमने यह और जोड़ा कि यद्यपि तुम इस विषय पर विषय-समिति या खुले अधिवेशन में बोले नहीं, पर तुमने इन व्यक्तिगत प्रश्नों को तीव्र बनाने में और उन्हें सार्वजनिक दृष्टि में प्रधानता दिलाने में और किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक योग दिया।

तुमने शरत् के नाम अपने पत्र में कहा है : "किसी के लिए भी यह कहना बेहूदा बात थी कि सुभाष की बीमारी बनावटी है और मेरे किसी भी साथी ने मेरी जानकारी में ऐसा इशारा नहीं किया।" जब तुम ऐसा कहते हो तो लगता है कि तुमने अपनी आंखों पर बिलकुल रंगीन चश्मा चढ़ा दिया है, जबकि त्रिपुरी में और उसके पहले मेरे राजनैतिक विरोधियों ने सब जगह इस आशय का व्यवस्थित प्रचार किया था। यह एक और अतिरिक्त प्रमाण है कि पिछले कुछ समय से तुम्हारा मेरे विरुद्ध झुकाव रहने लगा है (देखो इस पत्र का प्रारम्भ) मैं नहीं सोचता कि शरत् ने त्रिपुरी के वातावरण आदि के बारे में जो कुछ कहा है, वह जरा भी अत्युक्तिपूर्ण है।

तुमने त्रिपुरी में सुनी कुछ अरुचिकर रिपोर्टों का जिक्र किया है। तुम्हारे लिए यह अजीब और अशोभनीय बात है कि तुम जानते हो कि बंगाल ही एक ऐसा प्रान्त नहीं है जिसके प्रतिनिधियों के टिकट जारी करने के बारे में शिकायतें की गई हैं? क्या तुम जानते हो कि इसी तरह की शिकायतें आन्ध्र के विरुद्ध भी की गई थीं? किन्तु तुम केवल बंगाल का जिक्र करते हो। फिर क्या तुम्हें पता है कि जब बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर ने मूल रसीदें खो जाने के कारण दुहरी रसीदें जारी कीं तो उसने इस बारे में कांग्रेस महासमिति के दफ्तर को चेतावनी दे दी थी और कहा था कि उसे प्रतिनिधि टिकिट जारी करने में सावधानी रखनी चाहिए? क्या तुमने यह जानने की परवाह की कि इस गलती के लिए कौन जिम्मेदार है, बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी या कांग्रेस महासमिति का दफ्तर?

फिर, तुमने प्रतिनिधियों को लाने में बड़ी रकम खर्च करने का जिक्र किया है। क्या तुम नहीं जानते कि पूंजीपति और पैसे वाले लोग किस पक्ष में हैं? क्या तुमने सुना है कि पंजाब के प्रतिनिधियों को लारी भर-भरकर लाहौर से लाया गया? शायद डॉ. किचलू इस पर रोशनी डाल सकते हैं। पंजाब की एक प्रसिद्ध महिला कांग्रेस कार्यकर्त्री ने, जो मुझसे पांच दिन पहले मिली थीं, बताया कि हमें सरदार पटेल की हिदायत के अनुसार लाया गया है। मैं नहीं जानता, किन्तु निश्चय ही तुमको थोड़ी तटस्थता की भावना रखनी चाहिए।

त्रिपुरी में कांग्रेस-मंत्रियों के रवैये के बारे में मुझे दो बातें कहनी हैं। मुझसे

महासमिति के बहुत-से सदस्यों ने अनुरोध किया कि मतदान पर्ची के जरिये होना चाहिए। जब मैंने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि अगर खुले रूप से कांग्रेस मन्त्रियों के विरुद्ध वोट दिया तो उन्हें दिक्कत में फंसना पड़ेगा। इसका क्या मतलब? दूसरे, मैं इसके खिलाफ हूं कि कांग्रेसी मन्त्री इस तरह दलगत तरीके से मत संग्रह करें। इसमें शक नहीं कि उन्हें ऐसा करने का वैधानिक हक है, किन्तु इसका नतीजा यह होगा कि हर प्रान्त में कांग्रेस पार्लियामेंटरी पार्टी में फूट पड़ जायेगी। अगर कांग्रेसी मन्त्रियों को अपने प्रान्त की असेम्बलियों और परिषदों के तमाम कांग्रेसी सदस्यों का संयुक्त समर्थन प्राप्त नहीं होगा तो वे कैसे अपना काम चला सकेंगे?

क्या तुम इससे सहमत नहीं कि त्रिपुरी-कांग्रेस में (विषय-समिति में भी) पुराने नेतृत्व ने जनता की दृष्टि में निष्क्रिय रुख रखा और मन्त्री रंगमंच पर हावी रहे, जब शरत् ने यह कहा तो क्या वह गलती पर थे?

यह जले पर नमक छिड़कना हुआ जब तुम शरत् के नाम अपने पत्र में कहते हो : "त्रिपुरी-प्रस्ताव कांग्रेस-अध्यक्ष और गांधी के बीच सहयोग की कल्पना करता है।"

तुम इसी पत्र में दावा करते हो कि तुमने त्रिपुरी में और उसके पहले कांग्रेसियों में सहयोग करने की कोशिश की। क्या मैं तुम्हें यह अप्रिय तथ्य बताऊं कि दूसरे लोगों की इस बारे में दूसरी राय है। उनके खयाल से त्रिपुरी-कांग्रेस में कांग्रेसजनों और कांग्रेसजनों के बीच जो खाई पैदा हुई, उसकी जिम्मदोरी से तुम बच नहीं सकते। अब मैं तुम्हें अपनी नीति और कार्यक्रम स्पष्ट करने की दावत देता हूं—अस्पष्ट सामान्य बातों के द्वारा नहीं, बल्कि यथार्थवादी विस्तार के साथ। मैं यह भी जानना चाहूंगा कि तुम क्या हो, समाजवादी या वामपक्षी या मध्यमार्गी या गांधीवादी या और कुछ?

तुम्हारे शरत् को लिखे पत्र में दो प्रशंसनीय वक्तव्य हैं, "तमाम राजनैतिक प्रश्नों पर व्यक्तिगत पहलुओं को प्रधानता मिलते देखकर मुझे सबसे अधिक दुःख हुआ। अगर कांग्रेसियों में संघर्ष होता है तो मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि उसे ऊंचे स्तर पर और नीति तथा सिद्धान्त के मामलों तक ही सीमित रखा जाय।" अगर तुमने खुद अपनी बात पर अमल किया होता तो कांग्रेस राजनीति की दूसरी शक्ल हुई होती।

जब तुम कहते हो, तुम्हारी समझ में नहीं आया कि त्रिपुरी में क्या रुकावट थी तो मैं तुम्हारे 'सीधेपन' की बलायें लिये बिना नहीं रह सकता। त्रिपुरी-कांग्रेस ने असल में सिर्फ एक ही प्रस्ताव पास किया और वह था पन्त-प्रस्ताव और उसमें तुच्छता और प्रतिशोध की भावना भरी हुई थी। सत्य और अहिंसा के हिमायतियों ने अध्यक्ष के निर्वाचन के बाद दुनिया को बताया कि वे बहुमत के रास्ते में रोड़े नहीं अटकायेंगे और बाधा न डालने की भावना से उन्होंने कार्यसमिति की सदस्यता से त्यागपत्र दिया

है। त्रिपुरी में उन्होंने बाधा डालने के अलावा और कुछ नहीं किया। उन्हें ऐसा करने का अधिकार था, किन्तु उन्होंने ऐसे दावे क्यों किये, जिन्हें अमल में उन्होंने झुठलाया।

मैं इस लम्बे पत्र को समाप्त करने के पहले कुछ और बातों का जिक्र करूंगा।

तुमने त्रिपुरी में बंगाल के प्रतिनिधियों को टिकिट जारी करने में हुई दिक्कत का जिक्र किया है। एक दिन मैंने पत्रों में पढ़ा कि कलकत्ता की एक सार्वजनिक सभा में कांग्रेस महासमिति के एक सदस्य ने कहा कि उसने संयुक्त प्रान्त के कुछ प्रतिनिधियों से सुना है कि इस तरह की दिक्कत संयुक्त प्रान्त के बारे में भी पेश आई थी?

क्या तुम यह नहीं सोचते कि पन्त-प्रस्ताव का बुनियादी हेतु महात्माजी को मेरे विरुद्ध करना था? क्या तुम ऐसे कदम को प्रामाणिक समझते हो, जबकि मेरे और महात्माजी के बीच कम-से-कम जहां तक मेरी तरफ़ का सवाल है, कोई खाई पैदा नहीं हुई थी? अगर पुराने नेता मुझसे लड़ना चाहते थे तो उन्होंने सीधे तरीके से ऐसा क्यों नहीं किया? उन्होंने महात्मा गांधी को हमारे बीच में क्यों डाला? यह चतुर युक्ति थी, किन्तु सवाल यह है कि क्या यह कदम सत्य और अहिंसा के अनुकूल था?

मैं तुमसे यह पूछ चुका हूं कि क्या तुम सरदार पटेल के इस कथन को उचित समझते हो कि मेरा दुबारा निर्वाचन देश के ध्येय के लिए हानिकर होगा? तुमने इस बारे में एक शब्द भी नहीं कहा कि उन्हें अपना यह कथन वापस लेना चाहिए। इस प्रकार तुमने अप्रत्यक्ष रूप से उसके आरोप का समर्थन किया? अब मैं तुमसे यह पूछता हूं कि तुम महात्माजी के इस आशय के उद्‌गार के बारे में क्या सोचते हो कि आखिर मैं (सुभाष) देश का शत्रु नहीं हूं। क्या तुम सोचते हो कि इस प्रकार का कथन उचित था? यदि नहीं तो क्या तुमने मेरे पक्ष में महात्माजी से एक भी शब्द कहा?

तुम कुछ लोगों की इस चाल के बारे में क्या सोचते हो कि जब हम त्रिपुरी में थे तो दैनिक पत्रों में यह प्रकाशित हुआ था कि पन्त-प्रस्ताव को महात्माजी का पूरा समर्थन प्राप्त है।

और अब तुम पन्त-प्रस्ताव के बारे में क्या सोचते हो? त्रिपुरी में यह अफवाह थी कि तुम उसके बनाने वालों में से एक थे। क्या यह तथ्य है? क्या तुम इस प्रस्ताव को पसन्द करते हो, हालांकि उस पर मतदान के समय तुम तटस्थ रहे थे। तुम उसकी क्या व्याख्या करते हो? तुम्हारे खयाल में वह अविश्वास का प्रस्ताव था?

मुझे खेद है कि मेरा पत्र इतना लम्बा हो गया है। बेशक उससे तुम्हारा धीरज खो जायगा, किन्तु मुझे लम्बा लिखना पड़ा क्योंकि मुझे बहुत-सी बातें कहनी थीं।

संभव है, मुझे तुम्हें फिर लिखना पड़े या अखबारों में बयान देना पड़े। यह अस्पष्ट रिपोर्ट है कि कुछ लेखों में तुम मेरी अध्यक्षता की प्रतिकूल आलोचना कर

रहे हो। जब मैं तुम्हारे लेख पढ़ूंगा तो मैं इस विषय में कुछ कह सकूंगा और हमारे काम की तुलना कर सकूंगा, खासकर इस बात की कि वाम-पक्ष के ध्येय को तुमने दो साल में और मैंने एक साल में कितना आगे बढ़ाया।

अगर मैंने कठोर भाषा का प्रयोग किया हो या कहीं तुम्हारी भावनाओं को चोट पहुंचाई हो तो क्षमा कर देना। तुम खुद कहते हो कि स्पष्टता सबसे अच्छी वस्तु है और मैंने स्पष्ट होने की कोशिश की है, शायद नग्न रूप से स्पष्ट।

मेरी तबीयत धीमे, पर लगातार सुधर रही है। आशा है, तुम स्वस्थ होगे।

सस्नेह तुम्हारा,
सुभाष

□□

(X)

B-1608

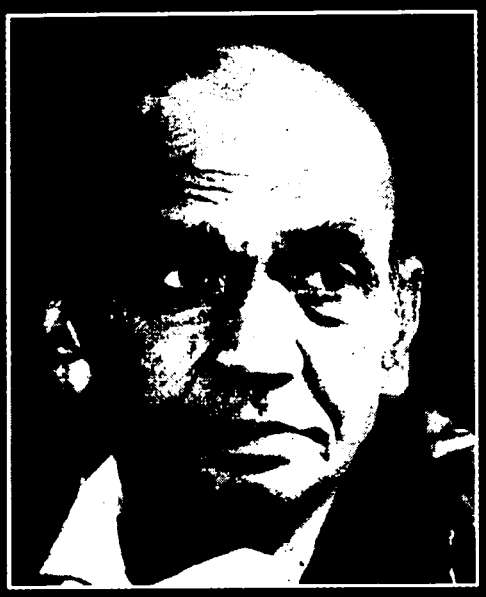

हंसराज रहबर
(1913 - 1994)

जवाहरलाल 15 अगस्त 1947 से 27 मई 1964 में अपनी मृत्यु तक देश के प्रधानमंत्री रहे। उनकी तानाशाही की शिकायतें तो बहुत सुनने में आईं ; पर उनकी ईमानदारी पर कभी किसी ने शक नहीं किया। वह वाकई बड़े ईमानदार थे, लेकिन हमें यह नहीं भूलना कि वे किस वर्ग के प्रति ईमानदार थे! अगर गांधीवाद के अथवा अंधी श्रद्धा के सूक्ष्म दबाव ने आपके दिमाग को कुंठित नहीं कर दिया है तो सोचिए कि आजादी के नाम पर औपनिवेशिक शासन–प्रणाली को स्वीकार करना कहाँ की ईमानदारी थी?

–इसी पुस्तक से

राष्ट्रवादी समालोचक हंसराज रहबर की कुछ अन्य विचारोत्तेजक पुस्तकें :-

- गाँधी बेनकाब
- योद्धा संन्यासी : विवेकानन्द
- प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन
- भगतसिंह : एक ज्वलंत इतिहास
- राष्ट्रनायक गुरु गोविन्दसिंह
- प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व
- तिलक से आज तक

प्रस्तुतकर्ता

भगतसिंह विचार मंच

एस-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032